स. वि. ग्रन्थमाला-४



S. U. Series-4

166 / Philosophy

कर्म और योग

लेखक



कृष्णानंद

विश्वेश्वरानंद मुद्रण व प्रकाशन मंडल, होश्यारपुर ।

सर्वदानंद-विश्व-ग्रन्थमाला

Sarvadanand Universal Series

स्मारक



स्वर्गत स्वामी सर्वदानंद जी

संपादक—

विश्वबन्धु शास्त्री, ऍम. ए., ऍम. ओ. ऍल., ओ. द.'अ.

ग्रन्थ ४

Volume IV

साहित्यिक परामर्श-समिति—

१. श्रीमती सोफिया वादिया, बंबई
२. डा. सर स. राधाकृष्णन, मोस्को
३. डा. श्री क. मा. मुन्शी, बंबई
४. श्री ग. वि. केतकर, पूना
५. आचार्य क्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन
६. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, नैनीताल
७. डा. श्री गोकलचंद नारंग, देहली
८. प्रिं. भाई जोधसिंह, अमृतसर
९. प्रो. श्री दीवानचंद शर्मा, होश्यारपुर
१०. श्री संतराम, होश्यारपुर



प्रकाशक,
विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान
मुद्रण व प्रकाशन मंडल,
साधु आश्रम, होश्यारपुर

स. वि. ग्रन्थमाला–४

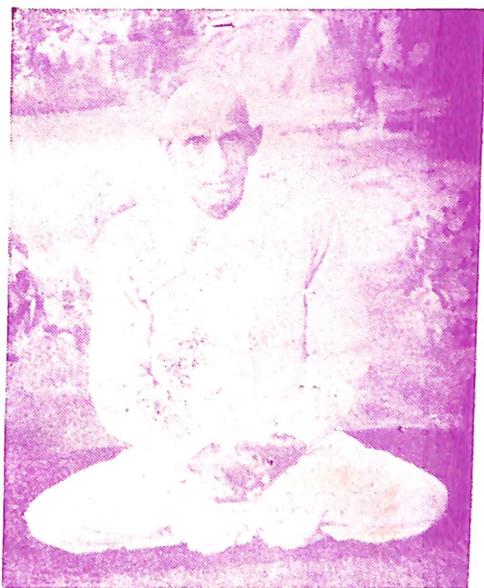


S. U. Series—4

कर्म और योग



लेखक



स्वामी कृष्णानंद सरस्वती, बी. ए., बी. टी.

विश्वेश्वरानंद मुद्रण व प्रकाशन मंडल, होश्यारपुर ।

संस्करण १ ; सं. २००७ (1950); [illegible]

—:*:—

मुद्रक व प्रकाशक—
देवदत्त शास्त्री, वि. वा., वि. भा.,
अध्यक्ष, वि. वै. शो. सं. मुद्रण व प्रकाशन मंडल,
साधु-आश्रम, होश्यारपुर।



आर्थिक सहायता

स्वर्गीय श्री विशनदास बांसल विश्वेश्वरानंद संस्थान के सदस्य और सहायक थे। आपके हृदय में भारतीय-संस्कृति व साहित्य के प्रति भक्ति का भाव भरा था। संस्थान को आप से विशेष आर्थिक सहायता मिली थी, जिससे यह विश्वभद्र-प्रकाशन-यज्ञ पूर्ण हुआ है। इसके द्वारा आपकी पुण्य-स्मृति सदा अमर रहे।

सर्वदानन्द विश्व-ग्रंथमाला—४



स्वर्गीय श्री बिशनदास बांसल

विश्वेश्वरानंद मुद्रण व प्रकाशन मंडल, होशियारपुर



संपादकीय

१. माला-नायक का परिचय—

स्वर्गीय श्री स्वामी *सर्वदानंद* जी महाराज, जिनका पहला घर का नाम श्री चंदुलाल था, का जन्म पंजाब के होशियारपुर नगर के दक्षिण में कोई पांच कोस पर बसे हुए, *बड़ी बसी* नाम के उपनगर में सं. १९१६ में हुआ था। आपके पूर्वजों में अनेक उच्च कोटि के वैद्य और योग्य विद्वान् हो चुके थे। आपके दादा श्री सवाईराम *काश्मीर* के थे। परन्तु वह बाल्य-अवस्था में ही *बड़ी बसी* के इस कुल में आ कर इसी के हो गए थे। आपकी आरम्भिक शिक्षा अपने यहां से बारह कोस पर *हरियाना* उपनगर के वर्नैकुलर मिडल स्कूल में हुई थी। आप में छोटी अवस्था से ही धार्मिक रुचि तथा साधु-सन्तों के सत्संग में प्रीति पाई जाती थी। इसी लिए जब गृहस्थ हो जाने के कुछ समय पीछे आपकी गृहिणी प्रसूता होकर बीत गई, तब फिर आप अधिक चिर तक घर पर नहीं रहे और विरक्त अवस्था में विचरने लग गए। सं. १९५३ के लगभग आपको भारतीय नव-युग के प्रथम प्रवर्तक, श्री स्वामी *दयानन्द* जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ, *सत्यार्थ-प्रकाश* के पाठ का सुअवसर मिला। इससे आप में लोक-सेवा का तीव्र भाव जाग उठा। तभी से आपने स्थिर-मति होकर, सद्विचार और निष्काम कर्म के सुन्दर, समन्वित मार्ग को धारण किया और सं. १९९९ में निर्वाण-पद की प्राप्ति तक, अर्थात् ४६ वर्ष बराबर उसे निबाहा। आप पवित्रता व सरलता की मूर्ति, राग-द्वेष से विमुक्त, दरिद्र-नारायण के

उपासक और खरी-खरी अनुभव की बातें सुनाने वाले सदा-हँस परम-हंस थे। आप सदा सभी के बनकर रहे और कभी किसी दल-बंदी में नहीं पड़े। आप जहां अच्छा कार्य होता देखते थे, वहीं अपनी प्रीति-निर्झरी प्रवाहित कर देते थे।

२. 'स्मारक' का इतिहास—

श्री स्वामी जी महाराज *विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान* के आदिम *ट्रस्टियों* तथा *कार्यकारी सदस्यों* में से थे और आपने आजीवन इसे अपने आशीर्वाद का पात्र बनाए रखा। आपका देहान्त हो जाने पर *संस्थान* ने यह निश्चय किया कि एक स्थिर *साहित्य-विभाग* के रूप में आपका *स्मारक* स्थापित किया जावे। उक्त विभाग सरल, स्थायी, सार्वजनिक साहित्य प्रकाशित करे और उसके द्वारा, आप के जीवन के ऊँचे व्यापक आदर्शों को स्मरण कराता हुआ, जनता-जनार्दन की सेवा में लगा रहे। इस पवित्र कार्य के लिए जनता ने साठ हजार रुपये से ऊपर प्रदान करते हुए अपनी श्रद्धा प्रकट की। परन्तु यह कार्य यहां तक पहुँचा ही था, कि हमारा प्रदेश पाकिस्तानी आग की लपेट में आ गया, सारी भारत-मातृक जनता के साथ ही *संस्थान* भी लाहौर को छोड़ने के लिए विवश हो गया। उसी गड़बड़ में इसे पांच लाख रुपये की भारी हानि भी सहनी पड़ी। तभी से यह अपने पाँव, नये सिरे से, जमाने में लगा हुआ है। पुनः प्रतिष्ठा नव-विधान से भी कहीं कड़ी होती है। इसी लिए यह अभी तक अपनी स्थिति को पूरी तरह संभाल नहीं पाया। परन्तु समीपवर्ती हरिद्वार कुम्भ के महापर्व ने सिर पर आकर, मानो ऐसी चेतावनी दी है कि और कार्य तो भले ही कुछ देर से भी हो जावे, परन्तु यह *स्मारक* का चिरसंकल्पित कार्य इस शुभ अवसर पर अवश्य आरम्भ हो जाना चाहिए। इस

माला का जैसे-कैसे किया गया यह प्रारम्भ उसी चेतावनी का फल है। इस प्रारम्भ में, निश्चय ही, अनेक दोष रह रहे हैं, पर इसमें हमारी वर्तमान भीड़ा का ही विशेष अपराध है। अवश्य, समय पाकर, यह कार्य हमारी हार्दिक श्रद्धा के अनुरूप हो सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

३. माला का क्षेत्र—

विश्व भर का विश्व-विध विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला और अनुभव ही इस *माला* का विशालतम क्षेत्र होगा। पर, फिर भी, क्षमता की सीमा को दृष्टि में रखते हुए, हमारे प्रकाशनों की मुख्य भाषा हिन्दी रहेगी, और इनका मुख्य आधार भारतीय संस्कृति और साहित्य होगा। इनमें अपने पूर्वजों की दाय-रूप सामग्री की व्याख्याओं के साथ ही साथ नई रचनाओं को भी पर्याप्त प्रवेश मिलेगा। इसी प्रकार, इनमें देश, विदेश की उत्तम रचनाओं के उत्तम अनुवादों आदि का भी विशेष स्थान रहेगा।

४. परामर्श-समिति—

इस 'माला' के क्षेत्र की विशालता और विविधता को देखते हुए ही इसके सम्पादन कार्य में आवश्यक परामर्श की प्राप्ति द्वारा इस विश्व-हितकारी कार्य को सफल बनाने के भाव से 'परामर्श समिति' की योजना की गई है। देश के भिन्न-भिन्न भागों के प्रसिद्ध सिद्धहस्त साहित्य-सेवियों ने इस 'समिति' की 'सदस्यता' स्वीकार की है—यह बात, अवश्य, इस कार्य के गौरव का प्रमाण, और, साथ ही इसके भावी विकास की अग्रिम सूचना समझनी चाहिए।

५. उपस्थित ग्रन्थ—

हमारे श्रद्धेय मित्र, स्वामी *कृष्णानंद* जी की मुख्य रचना *ब्रह्म-विद्या* इस 'माला' के 'ग्रन्थ १' के रूप में प्रकाशित हुई है। उसी के विशेष अंश को उपस्थित ग्रन्थ में पृथक् दिया जा रहा है ताकि पाठकों की अधिकतर संख्या को योग्य लेखक के इन अनुभव-सिद्ध विचारों से लाभ पहुँच सके।

६. आभार-प्रकाशन—

श्री *देवदत्त* शास्त्री व श्री *ब्रह्मदत्त* वेदतीर्थ ने संपादन-कार्य में, विशेषतः, सूचियों के निर्माण द्वारा हमारी बड़ी सहायता की है। सामान्य पदार्थ-सूची एक हिन्दी प्रकाशन के लिए नई, परन्तु पाठकों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोग की वस्तु है। उक्त विद्वानों ने तथा श्री *रामानंद* शास्त्री, श्री *पीताम्बर दत्त* शास्त्री व श्री *शिवप्रसाद* शास्त्री ने प्रूफ शुद्ध करने में पर्याप्त परिश्रम किया है। श्री *रेवतराम शर्मा* और छापा व जिल्द-बंदी विभाग के अन्य कर्मिष्ठों ने पुस्तक को शुद्ध व सुन्दर रूप में समय पर तैयार कर देने में विशेष प्रयत्न किया है। इस सराहनीय सहयोग के लिए हम इन सब का धन्यवाद करते हैं।

साधु-आश्रम, होश्यारपुर।
संवत्-प्रतिपदा, २००७ } विश्वबंधु

कर्म और योग

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद :—कर्म का रहस्य

द्वितीय परिच्छेदः—वैराग्य

तृतीय परिच्छेदः—योग-भक्ति-निदिध्यासन

प्रमाणलेखक-सूची

प्रमाणग्रन्थ-सूची



प्रमाणप्रतीक-सूची

—:o:—



कर्म और योग

प्रथम परिच्छेद

कर्म का रहस्य

१. शास्त्रोपदेश का अधिकारी प्रथम वर्ग

संसारगति-यम-नियम प्रायश्चित्त

छान्दोग्य उपनिषद् में गाथा के प्रसंग से प्रजापति के द द द उपदेश में शास्त्रोपदेश के अधिकारियों के दो प्रधान वर्ग किये गये हैं। प्रथम वर्ग उनका है, जिनका उद्देश्य सांसारिक भोग, जाया, पुत्र, धन, वैभव, राज्य, देव-पितृलोक आदि होते हैं। इनका वर्णन असुर तथा मनुष्य नाम से किया गया है। इन्हें हिंसा तथा लोभ से निवृत्त करने के लिए दया तथा दान का उपदेश किया गया है। अहिंसा के पालन करने में या हिंसा के त्याग में असत्य, क्रोध, निन्दा आदि पाप-रूपी मल-दोष के त्याग का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार लोभ का त्याग करने के लिए जब दान का आचरण किया जाता है तब इस उपदेश में सम्पूर्ण पुण्य, यज्ञ, तप, तीर्थ, शौच, सन्तोष आदि का समा-वेश हो जाता है। जिस प्रकार किसी वस्त्र पर रंग चढ़ाना हो तो पहले मिट्टी या साबुन से उसके मल को निकाल कर निर्मल किया जाता है और इसके पश्चात् रंग चढ़ाने से रंग अच्छी प्रकार उस कपड़े पर चढ़ जाता है, नहीं तो मलिनवस्त्र में रंग विकृतरूप को धारण कर लेता है, शुद्ध तथा उज्ज्वल रंग नहीं चढ़ता। इसीप्रकार मन को दान, यज्ञ, शौच, सन्तोष आदि शुभ गुणों से युक्त, संस्कृत तथा सुसज्जित करना हो, तो पहिले उस मन के मलहिंसा, असत्य, क्रोध आदि को हटाना अनिवार्य होता है। नहीं तो उन्नति के स्थान पर अवनति हो जाती है।

हिंसा-त्याग के विना दान दिखलावा या दम्भमात्र हो जाता है, जिसका चतुर मनुष्य प्रायः दूसरे भोले मनुष्यों को ठगने के लिए दुरुपयोग करते हैं। इसका फल परलोक में महान् अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यदि मनुष्य का भाव तो शुद्ध हो, परन्तु अविवेक के कारण वह केवल दानादि आचरणों को करे और हिंसा तथा दूसरों के धनादि अपहरण रूपी पापों के त्याग की ओर विशेष ध्यान न दे, तो उसका यह आचरण अविवेक तथा अज्ञानपूर्वक ही माना जायगा और उसे इनका कटु-फल भोगना पड़ेगा। इसी प्रसंग की चेतावनी के लिए मनु महाराज का यह वचन हैः—

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ ४,२०४

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जब तक अपने मन के मलिन संस्कारों के या सामान्य सामाजिक पतितावस्था के कारण हिंसादि दोषों का पूर्णतया त्याग न कर सके तब तक यज्ञ-दानादि का आचरण ही न करे। क्योंकि एक तो इस संसार में हिंसामात्र का स्वरूपतः त्याग असंभव सा ही है, दूसरे जीव जीव का भोजन है। यदि साक्षात् अन्य प्राणी के मांस का भोजन न भी किया जाय, तो भी खाने, पकाने, नहाने, धोने, चलने फिरने आदि में भी अन्य प्राणियों की हिंसा अनिवार्य ही है। इसके आधार पर मांसाहारी मांसभक्षण का समर्थन किया करते हैं। परन्तु अनिवार्य, अपरिहार्य दोष के आधार पर सामान्य परिहार-दोष की निर्दोषता सिद्ध नहीं की जा सकती। मांसाहारियों को इसप्रकार विवेकशून्य नहीं होना चाहिए। स्वतन्त्र अनिवार्य हिंसा के अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक शुभकाम यज्ञ आदि में कुछ न कुछ हिंसा अनिवार्य होती है। अतः इस हिंसा के भय से तो इन

शुभकर्मों का आचरण ही नहीं हो सकेगा। परन्तु दान, तप आदि का शुभ भावना से आचरण करते हुए, इनका सदुपयोग पूर्व ज्ञात अथवा अज्ञात पापों की निवृत्ति के लिए भी किया जा सकता है। ऐसा प्रायश्चित्त सामान्य मानवीय व्यवहार तथा मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। यद्यपि इसका दुरुपयोग हो सकता है; परन्तु ऐसा कौनसा सदुपदेश है, जिसका विवेक-च्युत मनुष्य दुरुपयोग नहीं करता। चोरों के भय से धनोपार्जन नहीं त्यागा जा सकता। जब कभी कोई मनुष्य मोह-क्रोध-आदि भावों के वश हो कर दूसरे व्यक्ति पर अत्याचार करता है, तब कुछ समय के पश्चात् आवेगों के शान्त हो जाने पर उसको अपने किये दुष्कर्म पर पश्चात्ताप होता है। और उसके मन में स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न होती है कि वह उस अत्याचार की निवृत्ति के लिए उस व्यक्ति का किसी न किसी रूप में भला करे, कुछ हित साधन करे, केवल क्षमायाचना आदि से वह सन्तुष्ट नहीं होता। उसका कुछ उपकार-विशेष करके वह मन में अधिक स्वच्छता का अनुभव करता है।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ गीता १८,५

"यज्ञ, दान और तप आदि कर्मों को छोड़ना नहीं चाहिए, करना ही चाहिए। ये यज्ञ, दान आदि शुभ-कर्म विचारशील मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं।" इस प्रकार यह प्रायश्चित्त भी मानवीय स्वभाव के अनुकूल ही है। ऐसा शास्त्रोपदेश मनोविज्ञान के आधार पर ही है। परन्तु जैसे ऊपर कहा गया है इन शुभ-कर्मों का उपयोग दूसरों को ठगने के लिए नहीं करना चाहिए। इस विषय में सावधान होने की आवश्यकता है, क्योंकि यह विषय गहन है। गीता में कहा है:—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ गीता ४,१६

"मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इस विषय में विद्वान् लोगों को भी भ्रम हो जाता है। इसलिए मैं तुझे कर्म के विषय में कहता हूं, जिसे जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जायगा।"

२. शास्त्रोपदेश का अधिकारी द्वितीय वर्ग—परमगति का इच्छुक

प्रथम वर्ग का अधिकारी पाप का त्याग तथा पुण्य का आचरण करता है। परन्तु उसका लक्ष्य सांसारिक भोग ही होता है। यहां वर्णाश्रम के अनुसार बाह्याचरण में अवश्य भेद होता है। परन्तु सांसारिक भोगरूपी ध्येय की समानता होने के कारण इनको एक ही वर्ग में रखा गया है। दूसरे वर्ग का सामान्य लक्षण, सांसारिक भोगों के अनित्यत्व आदि दोषों का निरीक्षण करके इन से उपरमता या विमुखता ग्रहण करना है। इसके भी कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। प्राप्तव्य लक्ष्य के भेद तथा अन्य कई कारणों से मार्ग में भी भेद हो सकता है। जैसे—निष्काम-कर्मयोग, वैराग्य, वितृष्णा, अनासक्तियोग, ध्यानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, राजयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग। परन्तु अपनी-अपनी समझ के अनुसार इन सब में सांसारिक भोगों से विमुखता समान ही है। सभी मोक्ष-धर्म मार्ग के अवलम्बी हैं। कभी-कभी इस वर्ग की बाह्यधर्म तथा आचरण में प्रथम वर्ग से समानता भी हो सकती है। जैसे यज्ञ, दान, तप तथा भक्ति का दोनों वर्ग आचरण करते हैं;

परन्तु ध्येय-भावना का भेद होने से वर्गों की भिन्नता है।

३. निष्काम कर्म की आवश्यकता

नित्यानित्य वस्तु के विवेक द्वारा सांसारिक भोगों के दोषों के सामान्यज्ञान मात्र से जन्मजन्मान्तर के अज्ञान तथा वासनायुक्त व्यवहार के कारण दोष का स्फुट बोध नहीं होता। और न ही पूर्ववर्णित वेदोक्त कर्मादि का त्याग तथा वितृष्णा का ही लाभ होता है। मोक्ष के परमसाधन श्रवण मननादि का अवलम्बन भी दृढतापूर्वक नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में प्रथम वर्ग के यज्ञादि धर्मों का निष्कामभाव से आचरण अनिवार्य होता है। मन के प्राक्तन संस्कारों की कार्य-क्षमता का निरोध केवल दोष-चिन्तन से होना असंभव है। यदि मन को कोई उपयुक्त काम दिया जाये तो मनोभूमि में प्राचीन संस्कारों की बाढ का आना स्वाभाविक है। जिसे हठ तथा नवीन—अतः बलहीन—विचार से कदापि रोका नहीं जा सकता। इसलिए ऐसी दशा में दृष्टिकोण को बदलकर मन को यज्ञादिकर्मों में लगाये रखना ही सफल उपाय हो सकता है। केवल हठ से रोकने का प्रयत्न करने पर मनोवेग अधिक प्रचण्डरूप धारण कर लेते हैं और मन प्राचीन वासनाओं का भयंकर रंगमञ्च बन जाता है। इसलिए तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने जो मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को पूर्णतया समझते थे, उसके सूक्ष्म अनुभवों के आधार पर ही श्रुत्यनुकूल निष्काम-कर्मयोग का विस्तार किया। इस निष्काम-कर्मयोग के विवेचन के लिए 'ब्रह्मविद्या' नामक पुस्तक के नीचे टिप्पण में दिये

स्थल देखने चाहियें*। इस निष्काम-कर्म के महत्त्व तथा ब्रह्मविद्या में इसके उपयोग का विस्तृत विवेचन यहां पर किया जाता है।

४. निष्काम कर्मावलम्बियों के दो भेद

संसार में जीवितदशा में कर्मेन्द्रियों के व्यापार का त्याग कर सकना असंभव है। प्रायः सम्पूर्ण व्यापार—कर्म—किसी न किसी प्रकार से शास्त्र की परिधि में आ सकता है। अतः आरम्भ में ही लौकिक तथा वैदिक (शास्त्रोक्त) कर्म के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। मोक्षमार्गावलम्बियों के दो भेद हो सकते हैं:—(१) साधक-जिज्ञासु—जिन्होंने अभी तक अपने ध्येय, मोक्ष के साधन भक्ति, ज्ञानादि की पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं किया और जो अभी साधनरूप से निष्कामकर्म का आचरण करते हैं। (२) सिद्ध-भक्त अथवा ज्ञानी--जिनको अपने व्यवहार या कर्म से सांसारिक योग अथवा मोक्षरूपी प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं करना है, परन्तु फिर भी प्रारब्धवश कहें या ईश्वरप्रेरणा से कहें, लोकसंग्रहार्थ कुछ न कुछ व्यवहार, उनकी अपनी दृष्टि अथवा दूसरों की दृष्टि से, उनसे होता है। ऐसे सिद्धपुरुषों तथा साधारणमनुष्यों के व्यवहार के बाह्यस्वरूप में चाहे भेद हो, परन्तु

---

* खण्ड २ अध्याय २ शीर्षक ३ भिन्न-भिन्न कक्षाओं में भक्तितारतम्य।
,, ,, ,, ७ ,, १० वहिरंग तथा अन्तरंग साधनों का भेद।
,, ,, ,, ७ ,, ११ उपनिषद् शिक्षा के अधिकारी की ब्रह्मपूजा
,, ,, ,, ,, ,, ,, भक्ति का स्वरूप अर्थात् सकाम तथा निष्काम भक्ति का भेद।
,, ,, ,, ७ ,, १३ समाधिपाद में ईश्वर प्रणिधान।
,, ,, ,, ,, ,, १४ साधनपाद में वर्णित ईश्वरप्रणिधान।
,, ,, ,, ,, ,, १५ दोनों (प्रणिधानों) की तुलना।
,, ,, ,, ४ — उपरति।

ऐसे व्यवहार का सर्वथा अभाव प्रायः नहीं होता। उसकी हम शास्त्रीय परिभाषा कर्मसंज्ञा करें या कुछ और, परन्तु व्यवहार तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः इन दो विभागों को दृष्टि में रखना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से मोक्षविद्या के सम्बंध में व्यवहार (कर्म) का उपयोग समझने में सुविधा होती है।

५. *कर्म-फल की नियामक शक्ति*

कर्म का सामान्य अर्थ है—क्रिया, गति या परिवर्तन। कर्म का लक्ष्य कोई परिवर्तन ही होता है। क्योंकि कर्म अवश्य कोई परिवर्तन उत्पन्न करता है। शास्त्र में इसके चार भेद किये गये हैंः—(१) उत्पत्ति—जैसे स्वर्ण से भूषण (२) विकार—जैसे दूध से दही (३) प्राप्ति—जैसे धन आदि की तथा (४) संस्कार—जैसे तेल में सुगन्ध। भौतिक-विज्ञानवादी भी मानते हैं कि क्रिया तथा प्रतिक्रिया समान होती हैं। अर्थात् कर्म कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य करता है। चेतनप्राणी इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट की निवृत्ति के लिए ही सब चेष्टायें करता है। जो चेष्टा स्वाभाविक नहीं या जिसका कारण सामान्य प्राणी की इच्छा से भिन्न नहीं, वह अवश्य इसी प्रयोजन वाली होती है। हां ! किसी भ्रान्ति (भूल) के कारण चेष्टा अथवा कर्म का फल कर्ता के लिए कभी कामना के विरुद्ध साक्षात् निज अनिष्ट की उपलब्धिरूप में भी हो जाता है और कभी-कभी कर्ता के कर्म का अनिष्टप्रभाव दूसरे प्राणियों पर पड़ता है। अर्थात् अन्य किसी प्राणी को उसकी चेष्टा से दुःख पहुंचता है तो वह प्राणी प्रतीकार के लिए मूलकर्ता को दुःख पहुंचाता है। इस प्रकार की परम्परा से भी कर्ता को दुःख पहुंचता है। इस परस्पर-व्यवहार की सुव्यवस्था के लिए ही सामाजिक-नियम तथा राज्य-नियमों का विधान है। जिससे प्राणियों के स्वत्व की

रक्षा हो और एक दूसरे को कष्ट न पहुंचा सके। यह तो स्पष्ट ही है कि कर्म का प्रेरक कारण इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-निवृत्ति की इच्छा है। यदि इष्ट के साधन में किसी प्रकार की भ्रान्ति हो तो इसका फल सीधा अथवा परम्परा से अनिष्ट (दुःख) भी हो सकता है। और जिस अज्ञान, मोह अथवा आसक्ति के वश कोई प्राणी दुर्व्यवहार करता है तो वह आसक्ति, मोह और अज्ञान उस दुर्व्यवहार से दृढ भी होते हैं। अज्ञानयुक्त दुर्व्यवहार का फल अज्ञान, मोह, आसक्ति की दृढता तथा दुःख होता है और ज्ञानयुक्त व्यवहार का फल ज्ञान, निरभिमानता तथा अनासक्ति की दृढता तथा इष्ट (सुख) होता है। जिस प्रकार भौतिक संसार में क्रिया तथा प्रतिक्रिया (action and reaction) का नियम है, जो नियमरूपी नियन्ता के आधार पर निरवच्छिन्न चलता है, कोई अन्य महान् शक्ति भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकती, ऐसे ही आध्यात्मिक जगत् में मानवीय इच्छा से किये जाने वाले कर्म का उपर्युक्त फल भी अनिवार्य है। व्यक्ति का व्यवहार, सामाजिक तथा राजनीतिक नियम और अन्य सब प्रकार के सुप्रबंध उस अटल नियम की प्रत्यक्ष सहायता के लिए केवल प्रतिनिधिरूप ही हैं। यह सब सुव्यवस्था भी उस नियन्ता के प्रकट या गुप्त आदेशानुसार ही है। इसके भंग हो जाने पर वह बलशाली शक्ति विना किसी अन्य सहायता के स्वतंत्र, नियमपूर्वक सुव्यवस्था करती है। कर्म-फलचक्र तो विना किसी बाधा के अनन्त, एकरस, निरन्तर चलता ही रहता है। जो कोई इसमें बाधा डालता है वह स्वयं, इस नियम-प्रवाह के अदम्य वेग को न सहन कर सकने के कारण पिस जाता है, चूर-चूर हो जाता है। यह नियम प्रत्येक व्यक्ति के भीतर आत्म-चेतावनी के रूप में विराजमान है। इसी के आधार पर मानव-जाति-मात्र के सामान्यधर्म, हिंसा,

चोरी, व्यभिचार के त्याग का आदेश प्रायः मनुष्यमात्र को अभीष्ट प्रतीत होता है। परन्तु मलिन संस्कारों के वश इस चेतावनी में चाहे भेद पड़ जाय, और उपर्युक्त कारण से प्रत्येक व्यक्ति में भेद का होना सबको विदित ही है। परन्तु चेतावनी हो या न हो यह कर्म अथवा कालचक्र निरन्तर घूमता रहता है।

६. कर्मफल में दृष्टिभेद—शास्त्रदृष्टि तथा लौकिकदृष्टि

इसके नियम एकरस, विशाल, सर्वव्यापी भू आदि सप्त अथवा चतुर्दश लोकों में परिवर्तन के कारण हैं। ये नियम केवल मनुष्यसमाज के सामान्यधर्म अहिंसा आदि में ही सीमित नहीं हैं, अपितु अनेक प्रकार के कर्मोपासनारूप से उचित देश तथा समय आदि निमित्तों के उपस्थित होने पर जन्म-जन्मान्तर में अनन्त (सत्य, भू आदि लोकों तथा उनमें होने वाले भोगों के रूप में) फल को उत्पन्न करते हैं। किसी कर्म का जो सामान्य फल वैयक्तिक प्रतीकार तथा सामाजिक राजनीतिक प्रबन्ध द्वारा प्रत्यक्ष होता हुआ दीखता है, वह किसी कर्म के लोक-लोकान्तर तथा जन्म-जन्मातर में होने वाले फल की अपेक्षा बहुत न्यून है। ऐसा भी होता है कि बहुत वार किसी कर्म का जो प्रत्यक्ष फल हम देखते हैं, उस फल का उस कर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं होता; वह किसी अन्य कर्म का फल होता है। उस महान् नियन्ता जगत्-स्वामी के नियम केवल हमारे सामाजिक नियम ही नहीं हैं। यज्ञादिरूप से कर्मशास्त्र में उनका अनन्त विस्तार है। और इस जन्म तथा इस लोक में उनके प्रत्यक्ष दीखने वाले फलमात्र को ही उसका फल समझना भूल है। जैसे हवन आदि क्रियाओं का वायु-शुद्धि आदि केवल प्रत्यक्ष फल मानना। ये प्रत्यक्ष फल भी चर्मचक्षु को ही परमप्रमाण मानने वालों को प्रेरित तथा उत्साहित करने के लिए ठीक हैं, परन्तु इन कर्मों का शास्त्रोक्त फल तो इहलौकिक वर्तमान शरीर के वियोग होने के

अनन्तर अन्य भू आदि लोकों के दिव्यभोग हैं। इहलौकिक यज्ञादि सामाजिक वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा राज्य-व्यवस्था आदि दृष्ट सुखभोग के लिए भी हैं; परन्तु केवल यह सुव्यवस्था इन यज्ञादि धर्मों का शास्त्रोक्त वास्तविक फल नहीं है। इस प्रत्यक्ष सुव्यवस्था का प्रधान प्रयोजन यह है कि इस सुव्यवस्था आदि के विना हम अन्य लोकों तथा जन्मान्तरों में होने वाली गति को प्राप्त नहीं कर सकते। उपर्युक्त विचार को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मूलकारण आरोग्य है, इस वचन से आरोग्य का फल अर्थ तथा काममात्र नहीं, प्रत्युत आरोग्य का फल धर्म तथा मोक्षमात्र कहा जाय तो उचित ही है। क्योंकि शास्त्र की दृष्टि से अर्थ और काम स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं हैं। अर्थ आदि के विना धर्म और मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। इसलिए इनको भी इस वर्ग में सम्मिलित कर लिया गया है।

(क) अति स्थूल प्रत्यक्ष दृष्टि वाले आरोग्य का सम्पादन अर्थ तथा काम (भोग) के लिए ही करते हैं। आजकल की सभ्यताभिमानी मानवजाति के लिए यही एक लक्ष्य बन गया है। क्योंकि अत्यन्त स्थूल, बाह्य प्रत्यक्ष को ही आजकल परम अथवा एकमात्र प्रमाण माना जाता है। इनकी जीवन-नीति का सूत्र यही है कि युद्ध तथा प्रेम में सब कुछ उपादेय है। आज का भोगप्रधान प्राणी भौतिक प्रेम और युद्ध को ही लक्ष्य मान कर अपनी इस पशु-नीति के अनुसार घृणित से घृणित अन्याय को भी न्याय मानता है।

(ख) सामान्य मध्यम शास्त्रोक्त दृष्टि वाले धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को आरोग्य तथा मनुष्य शरीर द्वारा साध्य मानते हैं।

(ग) शुद्ध-निर्मल शास्त्रोक्त ज्ञानचक्षु वाले धर्म तथा मोक्ष को ही मानव-आरोग्य का ध्येय मानते हैं तथा अर्थ और काम

को वे आरोग्य-सहित साधन मात्र मानते हैं। इस विवेचन का सार यह है कि वर्णाश्रमविभाग द्वारा नियमित वैयक्तिक, सामाजिक, अथवा राजनीतिक, यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, वाणिज्य, प्रजापालन, क्षात्र आदि धर्मों का मुख्य शास्त्रोक्त तथ्य फल परलोक में (भू आदि लोकों) में होने वाली दिव्य गति, तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण का फल कीट, पतंग, नरक आदि तामसिक गति है। यही इनका वास्तविक फल है। इस लोक में जो इनका सुव्यवस्थारूपी फल दीखता है, वह इस नियममर्यादा का फल नहीं। यह तो इस नियममर्यादा का स्वरूप है (ब्र० सू० ४,३,१; छा० ५,१०,१०; बृ० ७,२,१५;१६; गी० ४,३६)।

उपर्युक्त तथ्य को दृष्टि में न रखने से हमारी बुद्धि, व्यवहार तथा ध्येय में अनेक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे—(१) यदि धर्म का फल सुख है तो फिर यहां इसके विपरीत होता हुआ क्यों दीखता है। (२) शास्त्रोक्त कर्म-फल तथा गति आदि में अविश्वास। (३) इहलौकिक फलमात्र की दृष्टि से ही धर्म का निर्णय करना और इहलौकिक फल को देने वाले धर्म को ही धर्म समझना। अन्य वर्णाश्रमधर्मों की अवहेलना तथा वर्णाश्रम को ही देश के पतन का कारण मानना। (४) निष्काम-कर्ममात्र का तिरस्कार करना। (५) शास्त्रोपदेश की आवश्यकता को स्वीकार करना। उपर्युक्त विचार के समर्थक योगदर्शन के आगे लिखे हुए सूत्र हैं:—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। २,१२

क्लेश (अज्ञान) जिसकी जड़ है ऐसे कर्मसंस्कार इस लोक तथा परलोक में सुख-दुःखरूपी फल को उत्पन्न करते हैं।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। २,१३

अज्ञान के विद्यमान रहने पर कर्म का जाति (देव, मनुष्यादि),

आयु तथा भोग (सुख-दुःख) रूपी त्रिविधफल होता है।

७. कर्म की तात्त्विक-दृष्टि

उपर्युक्त विवेचन का विस्तार करने की आवश्यकता इसलिए हुई है, क्योंकि इस समय में जो शिक्षित समाज है वह अपनी उच्च शिक्षामात्रसम्पन्न बुद्धि के आधार पर कर्म के स्थूल इहलौकिक परिणाम पर ही दृष्टि रखता है। इसलिए वह केवल अन्न, धन आदि इहलौकिक आवश्यक सामग्री की सुव्यवस्था के आधार पर वैयक्तिक तथा सामाजिक कर्तव्य का निर्णय करता है, परन्तु इस नवीन, संकुचित, नास्तिक तथा भ्रान्त धर्मविवेचनशैली के बलबूते पर वैदिक, विशाल, अनादि, अनन्त, सप्तलोकव्यापी कोटि-जन्म-विस्तीर्ण प्रभाव वाले कर्मरहस्य को हृदयङ्गम करना असम्भव है।

इहलौकिक इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा इस युग के नवीन धर्मशास्त्र आदि का उच्चकोटि का ज्ञान भी इस रहस्य को समझने के लिये पर्याप्त नहीं है। केवल इनके आधार पर कर्म का विशाल स्वरूप, वैदिककर्मनिष्ठा की भावना और उसका फल, ब्रह्मविद्या में इसका उपयोग, ब्रह्मविद्या का स्वरूप तथा सिद्धावस्था का व्यवहार समझ में नहीं आ सकता।

८. भौतिक कर्म का बाह्य तथा आभ्यन्तरस्वरूप

केवल इहलौकिक इष्टानिष्ट पर दृष्टि रखें तो कर्म का बाह्य-स्वरूप अतिक्षुद्र तथा संकुचित हो जाता है। तब इसका स्वरूप आजकल के सामान्य आचारशास्त्र का सा हो जाता है और क्रियात्मक रूप में यह राजनीति, देश तथा घर की सुव्यवस्थामात्र में सीमित हो जाता है। परन्तु व्यक्ति के जीवन-काल में केवल इस जीवननिर्वाह के लिए उपयोगी सामग्री की क्रियात्मक व्यवस्था उपर्युक्त विशाल सर्वव्यापी कर्मचक्र की

शृङ्खला की अपेक्षा कितनी क्षुद्र है, यह कल्पनातीत है। इसलिए आज की कर्तव्य-व्यवस्था में यज्ञ, उपासना आदि का स्थान भी नहीं रहा। उलटा इनको प्राचीन, असभ्य मस्तिष्क की उपज, वहम तथा रोगादि का नाम दे देने में भी संकोच नहीं किया जाता। इसमें सन्देह नहीं कि लोभ के वश दंभपूर्वक इन तात्त्विक रहस्यों का दुरुपयोग समय समय पर होता रहा है। इसलिए साधारण रूप से सत्य तथा असत्य का मिश्रण अवश्य हो गया है। परन्तु यदि भौतिकविज्ञान की तरह इस अध्यात्मक्षेत्र में भी इस क्षेत्र के अनुकूल साधनों से, न कि भौतिकविज्ञान के यन्त्रों द्वारा, अन्वेषण किया जाता तो इसमें असत्य की मात्रा बहुत न्यून निकलती। परन्तु इहलौकिक तात्कालिक लाभ प्रदान करने वाले भौतिक विज्ञान के चमत्कारी आविष्कारों ने तथा योग-लालसा ने आध्यात्मिक क्षेत्र में अन्वेषण की आकांक्षा को ही उत्पन्न नहीं होने दिया।

९. *कर्म का आभ्यन्तरस्वरूप*

क्योंकि यहां इस प्रसंग में कर्तव्य का दार्शनिक विवेचन ही करना है, शास्त्रोक्त कर्म के बाह्य अनन्तस्वरूप का विवेचन इष्ट नहीं है, अतः केवल आन्तरिक भाव के संबंध में अब विवेचन किया जाएगा। यह बात ठीक है कि किसी राजनीतिक नियम का अज्ञान उस नियम के भंगकरने के दण्ड से व्यक्ति को मुक्त नहीं करवा सकता, अन्यथा बहुधा किसी को अपराध का दण्ड ही न मिलता। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो मनोभाव का ही विशेष सम्बन्ध है, अन्यथा बहुत से वैद्य प्राणदण्ड के भागी हो जाते। धर्म के विषय में कर्म का बाह्य आकार तथा उसका प्रत्यक्ष परिणाम इतने महत्त्व का नहीं जितना कि महत्त्व मनोभाव का है। यद्यपि बाह्य स्वरूप भी अपना विशेष कार्य रखता है, परन्तु मनोभाव कर्मरूपी शरीर का आत्मा है। जैसे प्राणिमात्र

का शरीर आत्मा के वियुक्त हो जाने पर निर्जीव हो जाता है और आत्मा की संयुक्त दशा का कोई कार्य नहीं कर सकता और उस दशा में गीदड़ तथा सिंह, मूर्ख तथा पण्डित एक समान निश्चेष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही मनोभाव के अभाव में सब कर्म निष्फल हो जाने से एक समान हो जाते हैं। इसीलिए कहा है:—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ मनु २,९७

वेद का अध्ययन-अध्यापन, विविध यज्ञ, नियम अथवा शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वों का सहन रूपी विविध तप, इनका वेद आदि सच्छास्त्रों में विधान है, और इनके द्वारा भिन्न भिन्न इहलौकिक तथा पारलौकिक फलों के मिलने का निर्देश है, परन्तु यदि कर्मकर्ता का मन दुष्ट भावना से कलुषित हो, तो इन कर्मों को अन्य बाह्य शास्त्रविधियों के अनुसार करने पर भी उसे किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। वही कर्म फल उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जो शास्त्रोक्त शुद्ध भावना से किया जाता है।

रहस्य तो यह है कि जिस कर्म को शास्त्रोक्त शुद्ध भावना तथा श्रद्धा से रहित होकर किया जाता है उसके किसी फल के होने या न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि शास्त्र की दृष्टि से तो वह कर्म, कर्म ही नहीं कहला सकता। वास्तव में यह मनोभाव ही कर्म का सार है। जैसे गीता में वर्णन आता है:—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ गीता १७,२७
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥ गीता १७,२८

यज्ञ, तप, दान में प्रवृत्ति सत् (श्रेष्ठ) कहलाती है। तथा भगवत्प्रीति और प्रसन्नता के लिए शुद्ध भावना से जो भी कर्म किया जाता है वह सत् कहलाता है। अर्थात्, वही शास्त्रदृष्टि से कर्म कहला सकता है अन्यथा कदापि नहीं (२७)।

शास्त्र, ईश्वरनिर्देश तथा फल में श्रद्धाशून्य मनुष्य जो भी कर्म करता है, यज्ञ करता है, दान देता है या तप तपता है, हे अर्जुन! शास्त्र की परिभाषा में वह असत कहलाता है। उस कर्म में चाहे कितना भी परिश्रम क्यों न किया जाए उसका न परलोक में कुछ फल होता है और न इस लोक में (२८)।

इसी मनोभाव के आधार पर यज्ञ, दान, तप आदि के, बाह्यस्वरूप अभिन्न होने पर भी, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद किये गये हैं। गीता के अध्याय १७ और १८ विशेष विचारणीय हैं।

१०. कर्म का बाह्यस्वरूप

परन्तु मनोभाव के तथ्य तथा महत्त्व-सूचक वचनों के आधार पर कर्म के बाह्य स्वरूप के महत्त्व की सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मनोभाव (श्रद्धा) के अभाव से सब कर्म निष्फल हो जाते हैं; परन्तु मनोभाव (श्रद्धा) तो सब कर्मों में एक सा ही है। फिर भिन्न २ कर्मों के भिन्न २ फल क्यों होते हैं? फलभेद का कारण तो कर्म का बाह्यस्वरूप ही है। मनोभाव तो विद्युत् की धारा है, जिसके अभाव में सब यन्त्रादि निश्चेष्ट हो जाते हैं, कुछ काम नहीं करते। परन्तु उस एक विद्युत् धारा से सम्पर्क होते ही भिन्न २ यंत्र पृथक् २ अपनी २ चेष्टा करते तथा भिन्न २ फल को उत्पन्न करते हैं। इसलिए केवल श्रद्धा के आधार पर हर एक कर्म तथा उपासना से तथा अस्त-व्यस्त विधि से अभिलषित अर्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता। नियत फल के लिए नियत कर्म ही विधि-अनुसार

करना पड़ता है। जैसे भौतिक जगत् में भी वायु तथा प्रकाश के लिए विद्युत् के पंखे तथा लाटु का प्रयोग करना पड़ता है, इसी प्रकार कर्म के बाह्यरूप का भी कर्मफल में अपना स्थान है। इसीलिए वेद अनन्त कर्मों से भरा पड़ा है। ऐसे विश्वव्यापी जन्मान्तरों में फल देने वाले कर्म के विषय में अत्यन्त अल्पज्ञ, मानवीय बुद्धि स्वतंत्र क्या निर्णय कर सकती है, जब कि एक दिन की तथा दीवार की ओट में होने वाली घटनाओं के ज्ञान में भी वह असमर्थ है। इस बुद्धि के सामर्थ्य का निर्णय तो इसी से हो जाता है कि नित्यप्रति की खान-पान की मात्रा का निर्णय ही ठीक नहीं होता और, इसी लिए, भयानक रोगों का आक्रमण मनुष्य पर हो जाता है। इसी लिए कहा है:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ गीता १६,२४

इसलिए जब कार्याकार्य का निर्णय करना हो तो शास्त्र ही प्रमाण होता है। शास्त्र के विधान को जानकर तदनुसार ही कर्म करना चाहिए।

११. सामान्य धर्मों का मौलिक तथा शास्त्रोक्त दृष्टि से आचरण के कारण फलभेद

यज्ञ, उपासना आदि कर्मों का इहलौकिक फलमात्र पर दृष्टि रखने वाली शैली से, शास्त्र की सहायता के विना, ज्ञान हो ही नहीं सकता। परन्तु वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सामान्यधर्मों का निर्णय इस लौकिकशैली से भी हो सकता है। इसलिए इन पर लौकिकदृष्टि वाले और शास्त्रदृष्टि वाले दोनों आचरण तो कर सकते हैं, परन्तु दृष्टिभेद के कारण फल में महान् भेद पड़ जाता है। मनोभाव अर्थात् श्रद्धा के भेद के कारण गीता में एक ही कर्म—यज्ञ, दान आदि—के सात्त्विक, राजासक

तथा तामसिक भेद हो जाते हैं। इसको दृष्टि में रखने से उपर्युक्त फल-भेद सहज में ज्ञात हो सकता है। उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, आदि का, उनके बाह्य व्यवहार का प्रायः एक ही स्वरूप होने पर भी, दृष्टि-भेद के कारण भिन्न फल होगा। देव-यज्ञ (हवन) के दृष्टान्त से यह रहस्य सम्यक् प्रकार से बतलाया जा सकता है। हवन का अनुष्ठान निम्नलिखित तीन दृष्टियों से किया जा सकता है:—

(१) लौकिक कर्तव्यदृष्टि—जिसमें हवन का लौकिक फल वायु-शुद्धिमात्र ही लक्ष्य होता है। यह फल प्रत्यक्ष अनुभव में आ सकता है। इसलिये इसके लिये शास्त्रविधान की विशेष आवश्यकता नहीं। जैसे साधारण मनुष्य शारीरिक शुद्धिमात्र के लिए स्नान आदि करता है, ऐसे ही हवन भी वायु-शुद्धि के लिए, विना शास्त्र-विधान के आधार के, केवल कर्तव्य-निर्णायक लौकिकदृष्टि के आधार पर कर सकता है।

(२) संकुचित शास्त्रोक्तदृष्टि—शास्त्र के आधार पर कोई व्यक्ति हवन करता है, परन्तु इसका फल केवल वायु-शुद्धि ही समझता है। प्रथम तथा द्वितीय कक्षों में फल का भेद नहीं। दोनों में वायु-शुद्धि रूप फल तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, परन्तु द्वितीय कक्षा में कर्तव्य का निर्देश ईश्वर तथा शास्त्रनिर्देश के अनुसार है।

(३) विस्तृत शास्त्रदृष्टि—इसमें हवन-कर्तव्य का निर्देश भी ईश्वर तथा शास्त्रनिर्देश के अनुसार होता है और फल का निर्देश, वायु-शुद्धि मात्र, भी लौकिकदृष्टि द्वारा नहीं होता, जैसे द्वितीय कक्षा में, प्रत्युत शास्त्र द्वारा ही होता है। मुण्डकोपनिषद् में इन यज्ञों के पारलौकिक, अनन्त, दिव्य फल का निरूपण मिलता है (१,२,१–६)। "तथा कर्मणा पितृलोका विद्यया देवलोकाः" (बृ०उ० १,५,१६) अर्थात् कर्म से पितृलोक की प्राप्ति

होती है और विद्या से देवलोक की—इस वचन में भी संकेत पाया जाता है।

सार रूप से इन तीन कर्त्ताओं के भेद ये हैं—(१) कर्तव्य-दृष्टि तथा फल-दृष्टि का आधार लौकिक (प्रत्यक्ष) दृष्टि है। (२) कर्तव्यदृष्टि का आधार तो शास्त्र है, परन्तु फल लौकिक दृष्टि से विशेष भिन्नता नहीं रखता। (३) कर्तव्य तथा फल दोनों का शास्त्र ही निर्देश करता है। दृष्टि-भेद के कारण फल-भेद निम्न प्रकार से होगा—

(१) शास्त्र-विधान के अनुसार कर्तव्यनिर्देश न होने से तथा जीव, ईश्वर, शास्त्र, परलोक आदि में आस्तिकभाव न होने से, शास्त्र की दृष्टि में वह पुण्य नहीं बनता। इसलिए लौकिक फल वायु-शुद्धि से विलक्षण फल कुछ नहीं होता।

(२) शास्त्रविधान के अनुसार कर्तव्य का निर्देश होने से, तथा जीव, ईश्वर, परलोक आदि में श्रद्धा होने से, इसका पारलौकिक फल अर्थात् पुनर्जन्म में अवश्य विशेष फल मिलता है, परन्तु शास्त्रवर्णित पितृलोक तथा अन्य लोकों में प्राप्त होने वाले दिव्य फल प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें उस भावना का अभाव होता है।

(३) कर्तव्य तथा फलनिर्देश पूर्णतया शास्त्र के अनुसार होने से शास्त्रवर्णित महान् दिव्य फल की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त विवेचन से इस कर्म-रहस्य का उद्घाटन होता है कि—

(१) वर्तमानकालिक भोग-सामग्री की सुव्यवस्था मात्र के आधार पर कर्तव्य का निर्णय करने वाली लौकिकदृष्टि यज्ञ, उपासना आदि का विधान करने में असमर्थ है। इसीलिए लौकिक बुद्धि-मात्र सम्पन्न विद्वान् तथा साधारण जन यज्ञ, उपासना आदि को व्यर्थ समझते हुए इनका खण्डन करते हैं।

इसलिए इनके अनन्त दिव्यफल से वञ्चित रहना तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि किसी कर्म के न करने पर उसके फल मिलने अथवा न मिलने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(२) परन्तु खेद की बात तो यह है कि जिस वैयक्तिक तथा सामाजिक कर्तव्य, अर्थात् पिता-पुत्र आदि व्यवहार, का लौकिक दृष्टिमात्र के आधार पर अनुष्ठान किया जाता है, उससे लौकिक सुव्यवस्था मात्र (फल पर दृष्टि होने से केवल इतना) ही फल प्राप्त होता है। शास्त्रोक्त पारलौकिक अनन्त फल प्राप्त नहीं होता। परिश्रम महान् होने पर भी, शास्त्र में अश्रद्धा के कारण, वैसा कर्ता महान् फल से वञ्चित रहता है। उसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्व लोकों के नियन्ता, ईश्वर में श्रद्धा नहीं है, जो वास्तव में सब नियमों तथा धर्मों का आधार है। अतः साधारण सामाजिक कर्तव्यों पर भी दृढतापूर्वक आचरण करना उसके लिए कठिन हो जाता है। जब कभी इन आचरणों के करने में भौतिक स्वार्थों में बाधा पड़ती दीखती है, तब वह इन साधारण धर्मों को भी छोड़ देता है। कर्तव्य को भी दृढता-पूर्वक कर्तव्यदृष्टि से वही कर सकता है, जिसे ईश्वर तथा शास्त्र पर विश्वास हो। जो इहलौकिक भोगों को ही सब कुछ समझता है, उसके कर्तव्यपालन की नींव बहुत निर्बल होती है, और वह कभी भी लोभ, क्रोध, मोह के हल्के से आघात से गिर सकती है। इसका फल स्वाभाविक रूप से यह होता है कि साधारण सामाजिक व्यवहारों में शुद्ध प्रेम तथा कर्तव्य की दृष्टि का लोप हो जाता है। और उसके स्थान पर स्वार्थ तथा अधिकार का राज्य हो जाता है, जिसके कारण पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा में अपने स्वार्थों और अधिकारों के लिए नित्य नया कभी समाप्त न होने वाला कलह तथा क्लेश समाज में व्याप जाता है। आजकल की सामाजिक अशान्ति

इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस समय की जगत् की स्थिति ही हमारे उपर्युक्त विवेचन की वास्तविकता का प्रबल प्रमाण है। लौकिक दृष्टि का यह निश्चित फल है। ब्रह्म तथा उस पर आश्रित विशाल कर्मचक्र की सत्ता का, किसी व्यक्ति के न मानने से, नाश तो नहीं हो जाता, परन्तु मिथ्या-भावना वाले को, सर्व सुव्यवस्था के आधारभूत तत्त्व (ईश्वर-ब्रह्म) तथा उसके आदेश, वेदादि सच्छास्त्रों की अवहेलना करने से, अनन्त दुःख तथा अज्ञानरूपी फल भोगना पड़ता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन भली प्रकार स्पष्ट करता है कि शास्त्रोक्त कर्म सकाम तथा निष्काम दो दृष्टियों से किये जाते हैं। जो लोग लौकिक बुद्धि को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं, उनके लिए तो सकाम कर्म के अपार प्रभाव को समझना भी कठिन है। निष्काम कर्म तथा ब्रह्मविद्या में उसके उपयोग को हृदयङ्गम करना तो उनके लिए अत्यन्त दुष्कर है। जिन लोगों की बुद्धि दुराग्रहयुक्त तथा संकुचित है, उनके लिए यह विवेचन विशेष उपयोगी नहीं हो सकता, हां, वे लोग, जिनकी बुद्धि कुछ विशाल है, जो दूसरों के विचार तथा अनुभव को तत्क्षण ठुकरा देने के स्वभाव वाले नहीं, प्रत्युत जो उस पर शान्तिपूर्वक विचार करते हैं, इस रहस्य को हृदयङ्गम कर सकते हैं। और, दूसरे उस श्रेणी के भी लोगों के विचारों के सुधार में यह विवेचन सफल हो सकता है, जो सामान्यतः वेदादि सच्छास्त्रों में श्रद्धा रखते हैं, परन्तु शास्त्रोक्त विधि-निषेध-रूपी कर्म, यज्ञादि के रहस्य को लौकिक भौतिकदृष्टि से ही समझने-समझाने का प्रयत्न करते हैं और शास्त्र के तात्पर्य को इस लोक में ही सीमित मानते हैं। वे लोग इस भ्रममूलक धारणा के कारण शास्त्रोक्त कर्म का भली प्रकार अनुष्ठान नहीं कर सकते, तथा श्रद्धा के मन्द

होने के कारण, जिन कर्मों का अनुष्ठान करते भी हैं, उनके शास्त्रोक्त महान् फल से वञ्चित रह जाते हैं।

१२. परलोक तथा पुनर्जन्म की समर्थक घटनाएं

१. इलाहाबाद के प्रसिद्ध दैनिक अंग्रेजी पत्र लीडर के २६ मई १६४६ के अंक में नीचे लिखी घटना प्रकाशित हुई। घटना का लेखक प्रेममोहनवर्मा लूथर रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद का था। घटना इस प्रकार है :—

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक डाक्टर की एक पुत्री थी, जिसकी आयु १२ वर्ष की थी। उसे अपने पिछले जन्म की अत्यन्त स्पष्ट स्मृति थी। वह पिछले जन्म में इलाहाबाद के प्रसिद्ध एडवोकेट मुंशी हरनन्दनप्रसाद का पिता थी, जो ३६ वर्ष पूर्व बनारस में मर गया था। वह एक प्रसिद्ध वकील तथा राय बहादुर था। उसके वर्तमान पिता ने उसकी प्राचीन जन्म की स्मृतियों को दबाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जब बनारस में उसके पिछले जन्म के घर में किसी एक विवाह के होने का समाचार उसे मिला, तो उसने अपने पिछले सम्बन्धियों से मिलने का आग्रह किया। उसे रेलवे-स्टेशन से अपने पिछले जन्म के घर का रास्ता बताने में कोई कठिनाई नहीं हुई और उसने अपने उन सब सम्बन्धियों को आसानी से पहचान लिया, जो उसकी मृत्यु के समय जीवित थे। उसका एक पोता इलाहाबाद में था और उस समय विवाह में उपस्थित नहीं था। उसे उसने आग्रहपूर्वक इलाहाबाद में ही देखा। मुंशी हरनन्दनप्रसाद ने पीछे आंखों में आंसू भरे हुए कहा कि इसमें कोई सन्देह नहीं और उसे दृढ विश्वास हो गया है कि उसके पिता जी ने ही इस लड़की के शरीर में पुनर्जन्म लिया है। उसे अपने तीन पीढ़ियों के पूर्वजों को पहिचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उसने अपने पुत्र को अपने पुराने रहने के मकान की देखभाल न करने के लिए फटकारा। उसने अपनी पुत्रवधू को पहिचान लिया जो उसकी मृत्यु के समय गर्भवती थी। उसने पूछा कि उस बच्चे का क्या वही नाम रखा गया था जो उसने बताया था, और इस बात पर वह सन्तुष्ट हुई कि नाम उसकी इच्छा के अनुसार ही रखा गया था। उसने अपनी पुत्रवधू को बुरा भला कहा कि उसने अपने परिवार के एक अनाथ बालक का, जो उसके सुपुर्द किया गया था, पालनपोषण नहीं किया। उसने अपने पुत्र को हमेशा अपने पुराने प्रयुक्त छोटे नाम से बुलाया और उससे आग्रह किया कि वह उसके साथ एक थाली में खाना खाए। उसने बताया कि इस बालिका के रूप में जन्म लेने और पुराने उस पिता के रूप में मरने के बीच के काल में वह दो बार और जन्म ले चुकी है—एकबार कानपुर में स्त्री के रूप में, जब वह २५ वर्ष की आयु में मर गयी थी, और दूसरी बार कहीं और पैदा हुई और १॥ वर्ष की आयु में ही मृत्यु को प्राप्त हुई।

२. वाकर ने अपनी पुस्तक 'री-इन्कार्नेशन' में एक निर्धन हिन्दू के विषय में लिखा है कि वह कभी अपने ग्राम से बाहर नहीं गया था। एक दिन वह चिल्ला उठा कि वह अमुक ग्राम में, जो वहां से साढ़े दस मील दूरी पर था, रहता था। कुछ अन्य धनी लोग उसको उस ग्राम में ले गये। उसने कठिनाई से अपने पुराने घर को पहिचान लिया और उस स्थान का पता बताया जहां उसने धन गाड़ा था। उस स्थान को खोदने से वह धन निकल आया।

३. देहली की कुमारी शान्तिदेवी की घटना पिछले दिनों में बहुत चर्चा का विषय बनी हुई थी। इस सम्बन्ध में कई प्रसिद्ध व्यक्तियों, श्री देशबन्धु गुप्त, श्री नेकीराम शर्मा और

श्री ताराचन्द एडवोकेट आदि, ने एक वक्तव्य निकाला, जिसे आर्य सार्वदेशिक सभा ने फिर पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया। इसका संक्षेप नीचे दिया जाता है:—

कुमारी शान्ति देवी १२ सितम्बर १९२६ को मुहल्ला चीराखाना देहली में श्री रंगबिहारी माथुर के घर पैदा हुई। जब वह ४ वर्ष की आयु की हुई और बोलने लगी तो वह अपने पिछले जन्म की बहुत सी बातें करने लगी और इस प्रकार कहने लगी—"मैं मथुरा में चौबाइन थी, मेरा पति कपड़ा बेचता था, मेरे घर का रंग पीला था, मैं अमुक मिठाई बहुत खाती थी और एक वस्त्र पहिनती थी।" वह मथुरा जाना चाहती थी परन्तु उसके वर्तमान माता पिता इस भय से कि ऐसे बच्चे मर जाते हैं उसकी बातों पर ध्यान नहीं देते थे। वह अपने पति का नाम लज्जावश पूछने पर भी नहीं बताती थी और कहती थी कि मैं पहचान लूंगी। एक दिन उसने अपने दादा के भाई को, मथुरा ले जाने की प्रतिज्ञा करने पर, कान में पति का नाम बताया। दादा बिशनदास ने एक प्रोफेसर की सम्मति से श्री केदारनाथ को मथुरा चिट्ठी लिखी जिसका उत्तर आया कि लड़की जो बातें बताती है वह ठीक हैं और कि आप उनके चचेरे भाई श्री कांजीमल, देहली की भानामल गुलजारीमल दुकान वाले, से लड़की को मिलाएं। लड़की ने उसे पहिचान लिया और प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर दिये। जैसे—मेरे दो बच्चे थे, एक लड़का और एक लड़की और घर में अमुक स्थान पर १५० रुपये गड़े थे। श्री कांजीमल के बुलाने पर श्री केदारनाथ अपनी नई पत्नी और पूर्व के लड़के के साथ १३ नवम्बर १९३५ को देहली आए। उसे बताया गया कि तुम्हारे पति के भाई तुम्हें मिलने आए हैं। भीड़ में उसने उनको पहिचान लिया और रोने लगी और पूछने पर बताया कि वह उसके पति हैं। श्री केदारनाथ ने उससे

कई ऐसे प्रश्न किये जिनका उत्तर पत्नी ही दे सकती है। उत्तर ठीक मिलने पर उन्हें विश्वास हो गया है कि यह उनकी पहिली पत्नी का पुनर्जन्म हुआ है। उसने अपने १० वर्षीय पुत्र को प्यार किया, उसे खिलौने दिये। उसकी मथुरा जाने की इच्छा बढ़ती गयी। उसने विश्रान्ति घाट, द्वारिकाधीश के मन्दिर, अपने घर के रास्ते और बाजार आदि का वर्णन किया। लड़की के माता पिता २४ नवम्बर १९३५ को उसे मथुरा ले गये। स्टेशन पर पहुंचते ही लड़की ने आस-पास के स्थानों को पहिचान लिया और चिल्ला उठी कि मथुरा नगर आगया। प्लेटफार्म पर श्री देशबन्धु ने लड़की को उठाया हुआ था। एक पुरुष की ओर संकेत करके उसने बताया कि वह उसके जेठ हैं और गोद से उतर कर उनके पांव छुए। तांगे पर वह अगली सीट पर बैठी हुई थी, उसे वह स्वयं घर का रास्ता बताते हुए घर की ओर ले गयी। मार्ग में अपने श्वसुर को पहिचान लिया। घर के स्थानों के विषय में उससे प्रश्न किये गये जो उसने ठीक ठीक बताए। उधर की बोली में शौचालय को 'जाय जरूर' कहते हैं, उस स्थान को उसी नाम से उसने बताया। घर के आदमियों को पहिचान लिया। दूसरे मकान पर, जिसे किराये पर दिया हुआ था, वह ले गयी। वहां पर एक कुआं था। उसने बताया कि इस स्थान पर एक कुआं था जो अब बन्द कर दिया गया है।

यदि इस प्रकार की अन्य घटनाओं को जानने की किसी की रुचि हो तो वह Walker कृत Reincarnation नामक, W. Dutoolwaski कृत Pre-existence and Reincarnation नामक, Oliver Lodge कृत My Philosophy of Life नामक ग्रन्थों को तथा ब्रिटेन के Psychical Research Journal नामक पत्रिका को देखे। इनमें अनेक ऐसी प्रामाणिक घटनाओं का उल्लेख है। हमने केवल उदाहरण के रूप में ही ये तीन अतिप्रसिद्ध नवीन घटनाएं दी हैं।

१३. आश्रमों का संसार-गति तथा मोक्ष-गति की दृष्टि से भेद

ब्रह्मचर्याश्रम का लक्ष्य

शास्त्र में द्विजों (वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण) के लिए चार आश्रमों (१. ब्रह्मचर्य २. गृहस्थ ३. वानप्रस्थ तथा ४. संन्यास) का विधान है। ब्रह्मचर्य आश्रम में दीक्षित हो जाने पर आर्य मनुष्यों की सन्तान का दूसरा जन्म होता है। मनुष्यों को मनुष्य-जाति में जन्म से ही पाशविक, प्राकृतिक, लौकिकदृष्टि और उसी के अनुसार व्यवहार की प्रवृत्ति साधरणतया प्राप्त होती है। इसलिए मानवीय शास्त्र, पारलौकिकदृष्टि तथा व्यवहार के लिए ब्रह्मचर्याश्रम में दीक्षित होना आवश्यक होता है। इस नवीन दृष्टि तथा तदनुसार अनुष्ठान के कारण ही यह दूसरा जन्म कहलाता है। अन्यथा साधारण बाल्यकाल पशुओं और वैदिक-संस्कारहीन असभ्य अथवा सभ्य जाति में उत्पन्न बालकों तथा शूद्र सन्तानों का समान ही होता है। बाल्यावस्था मात्र ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्याश्रम में सुयोग्य गुरु बालक को जहां लौकिक सुखसम्पादन के लिए सामान्य व्यावहारिक, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक शिक्षा देता है, मनुष्यमात्र के सर्वसाधारण सत्य अहिंसा आदि व्यवहारों का बोध कराता है, वहां देहपात के अनन्तर होने वाली देही की गति के विषय में शिक्षा देता है। कोई विचारवान् यह नहीं मान सकता कि किसी परिणाम की उत्पत्ति विना किसी उपयुक्त कारण के हो सकती है। अकस्मात् कोई घटना नहीं होती। भौतिक विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है। किन्हीं घटनाओं में सम्बन्ध निर्धारित करने का नाम ही 'विचार' है। बुद्धि का यही काम है कि वह बिखरी हुई, अनोखी घटनाओं को, जिनका संबन्ध अज्ञात है, एक क्रम में पिरो दे। यह संबंध प्रधानतया कार्य-कारण का होता है।

विचार की धारा यहां से ही चलती है कि यह घटना क्यों हुई। यदि इस प्रश्न को छोड़ दें तो किसी प्रकार के विचार का जन्म ही नहीं हो सकता। जो व्यक्ति इस क्यों ? को, अर्थात् कार्य-कारण-भाव के संबन्ध के अन्वेषण को त्याग कर स्वभाव, यदृच्छा आदि की शरण लेता है, वह, मानो, विचार ही नहीं करता। स्वभाव या यदृच्छा के आधार पर संसार-चक्र तथा अवान्तर किसी घटना को समझने-समझाने का यत्न करना, मानो, अज्ञान तथा विचार-शून्यता को ही ज्ञान तथा विचार का नाम देना है।

मनुष्य अथवा प्राणिमात्र की सुखदुःखमयी जीवन-धारा को समझने के लिए यदि हम केवल लौकिक घटनाओं, माता-पिता आदि निमित्तों तथा वर्तमान परिस्थितियों तथा उनके परिणामों को ही आधार बना कर विचार करें तो इसका पूर्णतया समाधान हो सकना कठिन ही नहीं, असंभव होता है। प्राणिमात्र की संपूर्ण चेष्टाएं दुःख से बचने तथा सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से ही होती हैं। इस लक्ष्य का भिन्न २ अवस्थाओं के अनुसार सत्य, प्रेम, भक्ति, सेवा, परोपकार अथवा ज्ञान, कुछ भी, कितना ही वन्दनीय नाम क्यों न रख लिया जाय और बाह्यस्वरूप में इसका कुछ भी भेद क्यों न हो, निश्चय ही, इनकी प्रयोक्तृ-तन्तु यही दुःख से बचने और सुख की प्राप्ति की इच्छा है। और ये संपूर्ण लक्ष्यों के भिन्न २ रूप इस इच्छा के ही परिवर्तित तथा परिमार्जित रूप हैं। यह प्राणी सामान्य सुख-दुःखों से उपराम की वृत्ति, उदासीनता, सहनशीलता, अनासक्ति आदि को भी किसी अन्य विचित्र नित्यसुख के लिए ही अपनाता है। यहां तक कि अति भय-प्रद मृत्यु के अनिवार्य होने पर भी यह स्वाभाविकतया चाहता है कि प्राणों का वियोग सुख से हो, उस समय कष्ट न हो। केवल कायरता ही मृत्यु-भय तथा कष्ट-रहित

मृत्यु की इच्छा की जननी नहीं है। इन सब कष्टों से उदासीनता रूपी शूरवीरता का जन्म भी किसी दूसरे अनोखे सुख, मृत्यु-भय तथा दुःख की निवृत्ति की अभिलाषा से होता है। इस लिए मनुष्य के ये प्रश्न स्वाभाविक हैं कि नव-जात शिशु के सुख-दुःख का क्या कारण है ? बिना किसी बुद्धिग्राह्य प्रत्यक्ष कारण के इस सुख-दुःख की धारा अकस्मात् क्यों टूट जाती है ? मनुष्य के सुख के लिए किये जाने वाले सभी प्रयत्न क्यों विफल हो जाते हैं ? यह जीवन-धारा क्यों और कहां से आती है ? और कहां कैसे चली जाती है ? इत्यादि प्रश्न मनुष्य के मन में स्वाभाविक-रूप से अनादि काल से उठते चले आये हैं और आगे भी सामान्य मानव बुद्धि के सामने उपस्थित होते रहेंगे कुछ काल के लिए कई कारणों से चाहे शिथिल हो जायें, परन्तु निर्मूल कभी नहीं होते, समय पाकर फिर पूर्ण बल के साथ बुद्धि को अपने समाधान के लिए बाधित करते हैं।

इन प्रश्नों के उत्तर के अनेक भेद हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि किन्हीं मनुष्यों की बुद्धि इन प्रश्नों को अतिरहस्यमय समझकर वर्तमान-कालिक कुरीतियों तथा अन्यायों के प्रतीकार को समान्य ज्ञान और शक्ति के लिए उपयोगी जानकर, अथवा दुःख का अन्य कोई प्रतीकार न करके सुख-दुःख की नई परिभाषा की कल्पना करके, इन प्रश्नों की ओर से आंखें मूंद ले। परन्तु मनुष्य का प्रत्येक घटना को समझने के लिए 'क्यों' कहने का स्वभाव तथा प्राणिमात्र की स्वाभाविक सुख की इच्छा और दुःख से द्वेष इन प्रश्नों के चक्र को कदापि समाप्त नहीं होने देते। यह विचार, कि इस जीवनधारा का आरंभ तथा अन्त इस देह के साथ ही हो जाता है, और इसके सुख-दुःख बिना इसके अपने किसी कर्म के अकस्मात् अपने आप ही हो जाते हैं, मानवीय बुद्धि को कभी पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकता। और न ही, इसी

प्रकार, ये विचार, कि इसके अपने सुख-दुःखों पर इसका कोई अधिकार नहीं, अथवा दुःख को दुःख न समझना ही एकमात्र इन से बचने का उपाय है और यही ज्ञान है, उसे संतुष्ट कर सकते हैं। इस संबन्ध में वह देखता है कि सभी दुःख मन के माने हुए नहीं हैं। अग्नि-दाह का दुःख कल्पना मात्र नहीं है। अथवा जब इसकी न्यायोपार्जित सम्पत्ति सदा के लिए अकस्मात् इससे पृथक् हो जाती है, तो इस प्रकार की भयानक दासता मनुष्य के लिए असहनीय होती है। पशु की बात और है, जिस में संभवतया यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। मनुष्य यदि जी सकता है तो इस सम्भावना मात्र के आधार पर ही जी सकता है कि यह जीवनधारा अनादि काल से बह रही है और इसका अन्त देह के अन्त के साथ ही नहीं हो जाता। यह निरवच्छिन्न रूप से निरन्तर बहती रहती है। तथा मनुष्य का अपना सुख दुःख उसकी अपनी ही कृति है। जो इस जन्म में अन्धा उत्पन्न हुआ है, उसने अपनी ही किसी पूर्व-कृत चेष्टा से अपने इन अमूल्य चक्षुओं को खो दिया है। उसकी वर्तमान स्थिति का बनाने वाला वह स्वयं है। और यदि वह चाहे तो उपयुक्त साधनों से कालान्तर में इस स्थिति को परिवर्तन कर देने में भी वह पूर्ण स्वतंत्र है। यह वह संभावना है कि जिसके उज्ज्वल प्रकाश के आधार पर मनुष्य जीता है।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर का त्रिकालाबाध्य ज्ञान—वेद—इसका परम तथ्य रूप से प्रतिपादन करता है और वे ऋषि-मुनि जिनकी बुद्धि वेद-शिक्षा से संस्कृत तथा सूक्ष्म और दिव्य हो चुकी थी, वे अपने अनुभव के आधार पर इन मन्तव्यों का समर्थन करते हैं कि—

(१) जीव नित्य है।

(२) जीव कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परतंत्र है।

(३) जीव के वर्तमान जन्म के जाति, आयु और भोग इसके पूर्वजन्म-कृत कर्म का फल हैं। और वर्तमान-जन्म-कृत कर्मों का फल, यदि यहां नहीं, तो जन्मान्तर में इसको अवश्य भोगना पड़ेगा। अर्थात् मनुष्य अपने कर्मों द्वारा उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट गति को प्राप्त करता है।*

परलोकगति-विषयक इस शास्त्रीय दृष्टि का सम्पादन करना ही ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य उद्देश्य है। ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य उद्देश्य लौकिक सम्पत्ति की रक्षा या सुव्यवस्था करना नहीं है। यदि इस अवस्था में इस प्रकार की लौकिक व्यवस्था के लिए भी कुछ उपदेश होता है तो उसका उद्देश्य भी यही है कि इसके द्वारा परलोक-गति संबन्धी यज्ञ, दान, तप आदि के अनुष्ठान में सुविधा हो। जैसे घोड़ा-गाड़ी आदि सामग्री तथा मार्ग की सुव्यवस्था अपने आप में लक्ष्य नहीं है, परन्तु ये सब प्राप्तव्य स्थानरूपी लक्ष्य के साधनमात्र हैं, इसी प्रकार लौकिक व्यवस्था की शिक्षा है। इस लिए आजकल की बाल्यावस्था को, जिसमें मुख्यतया लौकिक शिक्षा-दीक्षा से बालक को सुसज्जित किया जाता है, वर्तमान परिपाटी के अनुसार एक सभ्य बाल्यावस्था का नाम तो दिया जा सकता है, किन्तु इसे वेदोक्त ब्रह्मचर्याश्रम नहीं कहा जा सकता। जैसे आजकल का एक सभ्य समाज का बालक अपने बाल्य-काल में इस प्रकार की योग्यता प्राप्त करने का अभ्यास करता है, जिस के द्वारा वह अपने भावी जीवन में लौकिक सुख-सामग्री को जुटा सके, और उसी के अनुसार वह अपने जीवनोपयोगी व्यवसाय को चुनता है, इसी प्रकार, वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम भी परलोक-गति तथा उस के साधन ज्ञान के सम्पादन के लिए है। उत्तम परलोक-गति के मुख्य दो भाग किये जा सकते हैं:—(१) दिव्य सांसारिक गति—स्वर्ग, पितृलोक

* बृ० उ० ६,२,१५;१६; छां० उ० ५,१०,६.

तथा देव-लोक—(२) मोक्ष। इस से पूर्व भी (बृहदारण्यक १,४,१६ तथा ४,४,२२ के आधार पर) कहा गया है कि पुत्र से इस लोक को विजय करता है, कर्म से पितृ-लोक को और विद्या से देव-लोक को। पूर्व-कालिक विद्वान् नित्य-ब्रह्म के महत्त्व और कर्म के नाशवान् फलरूपी दोष को जानते हुए जा (सन्तान) की कामना नहीं करते थे। वे कहते थे "हमारा लोक तो 'आत्मा' है, हम प्रजा से क्या करेंगे।" इसलिए पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा को त्याग कर वे भिक्षा-व्रत—संन्यास—को धारण करते थे। अर्थात् वे लोग ब्रह्मचर्याश्रम में परलोक की दिव्य-गति के दिव्यभोग-मार्ग तथा मोक्ष-मार्ग की शिक्षा प्राप्त करते थे और उसके पश्चात् अपनी योग्यता के अनुसार भोग अथवा मोक्ष के मार्ग को ग्रहण करते थे।

१४. अन्य आश्रम

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम का विधान केवल भोग-मार्ग वालों के लिए है। ब्रह्मचर्य आदि अन्य आश्रमों में तथा गृहस्थाश्रम में मुख्य भेद यही है कि गृहस्थ में धन, जाया, पुत्रादि लौकिक सम्पत्ति और दिव्य-लोक की प्राप्ति के लिए यज्ञ, दान आदि साधन विद्यमान रहते हैं, परन्तु अन्य आश्रमों में भोग तथा भोगों की प्राप्ति के लिए उपयोगी सामग्री का अभाव होता है। यदि किसी को इस भोग-सामग्री की लालसा न हो, तो वह गृहस्थ में प्रवेश ही किस लक्ष्य से करेगा? भोग के अतिरिक्त अन्य कौन सा ऐसा लक्ष्य, अध्ययन, तप, सेवा आदि है, जो ब्रह्मचर्यादि अन्य आश्रमों में सुसम्पाद्य नहीं है? यदि पर्वत पर चढ़ना ही है, तो पीठ पर पत्थर लादने की क्या आवश्यकता है। भिन्न २ लोकों में अनन्त भोगों के भेद के कारण ही गृहस्थ-धर्म बहुत आयास तथा वित्तादि से साध्य यज्ञादि वैदिक कर्मों से भरा पड़ा है। अतः गृहस्थ को भोग तथा

कर्म-स्वरूप कहना ही उचित है। ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन ही मुख्य कर्तव्य है, अन्य तप तथा गुरु-सेवा आदि कर्तव्य अध्ययन के लिए ही हैं। इसके अतिरिक्त केवल देव-यज्ञ है। वानप्रस्थाश्रम में तप प्रधान है। इसमें ब्रह्म-यज्ञ तथा देव-यज्ञ का भी विधान है। संन्यास आश्रम में केवल ब्रह्म-यज्ञ (ब्रह्मविद्या) का ही विधान है।

१५. सकाम तथा निष्काम कर्म का अधिकारी आश्रम गृहस्थ ही है

इस उपर्युक्त विवेचन से सकाम और निष्काम का भेद, निष्काम का रहस्य और उसके अधिकारी इत्यादि विषय सुगमता से समझ में आ सकते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में परलोक सम्बन्धी शिक्षा तो प्राप्त की जाती है, परन्तु इसमें अभी यह निर्णय नहीं हुआ होता कि यह बालक भोग-मार्गी है अथवा मोक्ष-मार्गी। उचित समय पर जब यह निश्चित हो जाता है, तो भोग-मार्ग को ग्रहण करने वाला बालक समावर्तन-संस्कार के अनन्तर तुरन्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाता है। और, मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन करने वाला गुरुकुल में ही रह कर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर सकता है अथवा संन्यासाश्रम में भी प्रवेश कर सकता है। गृहस्थाश्रम में यदि किसी को भी जाया, वित्त, लोकादि से दृढ वैराग्य हो जाय; तो वह उसी दिन वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। अतः यदि दृढ वैराग्य हो तो ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक नहीं। गृहस्थाश्रमी को दृढ वैराग्य होने पर अपनी योग्यता के अनुसार वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित होता है कि गृहस्थ भोग-मार्ग है और उस भोग के साधन कर्म का इस आश्रम में बाहुल्य है। क्योंकि यह सब भिन्न-भिन्न कर्मों का अनुष्ठान भिन्न-भिन्न भोगों की वासना के अनुसार किया जाता है, इसलिए इन कर्मों को सकाम कहते हैं। अतः गृहस्थाश्रम प्रायः यज्ञादि

सकाम-कर्ममय है। अन्य आश्रमों में इन सकाम यज्ञादि कर्मों का विस्तार नहीं है। इनमें वेदाध्ययन, तप तथा ब्रह्मविद्या का ही साक्षात् अथवा परम्परा से मोक्ष के लिए उपयोग है। यह ब्रह्मविद्या के अन्तरंग साधनों में से है। अतः इन आश्रमों में सकाम या निष्काम कर्म का प्रश्न ही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि तप, अध्ययन तथा अपरा विद्या (उपासना) का उपयोग दिव्य-लोकों की प्राप्ति के लिए भी हो सकता है, परन्तु यह इन आश्रमों का मुख्य प्रयोजन नहीं है। यदि कोई ऐसा करता है तो वह इन आश्रमों का दुरुपयोग करता है। अतः कर्म-प्रधान गृहस्थाश्रम में ही कर्म के सकाम तथा निष्काम दो भेद हो सकते हैं। जिस गृहस्थाश्रमी के मन में दिव्य भोगों की कामना दृढ है, वह निष्काम-कर्मी कैसे हो सकता है ? और जिसको दृढ वैराग्य है उसे शास्त्रोक्त संन्यास का अधिकार प्राप्त है। उसका जब कर्म ही छूट जाता है, तब उसके सम्बन्ध में सकाम तथा निष्काम का भेद ही व्यर्थ है। अब केवल एक ही स्थिति रह जाती है कि जिसमें एक गृहस्थ को भोग में कुछ दोष-दृष्टि तो उत्पन्न हुई है, परन्तु वह इतनी प्रबल नहीं है कि वह भोग को तुरन्त त्याग सके। उसके लिए अपने आश्रमोचित कर्मों का करना अनिवार्य है। ऐसे व्यक्ति के लिए ही यह विधान है कि वह भोग में दोष-दृष्टि, नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, वैराग्य तथा जिज्ञासा की दृढता के लिए गृह-कर्म को निष्काम-भाव से और ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। यही निष्काम कर्म का मुख्य प्रयोजन है तथा ऐसा गृहस्थ ही उसका अधिकारी है। यदि किसी गृहस्थ को दृढ वैराग्य हो, परन्तु वह किसी कारणवश संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता, तो उसके लिए भी आश्रमोचित कर्तव्य अनिवार्य होता है, क्योंकि उसमें कामना का अभाव होता है। अतः उसके लिए तो निष्काम कर्म स्वाभाविक हो जाता है।

वेदोक्त आश्रम-मर्यादा के पर्यालोचन से यही ज्ञात होता है कि संन्यास में कर्म-त्यागरूपी न्यास का अभिप्राय गृहस्थाश्रम के यज्ञ, दानादि कर्मों के विषय में है। सामान्य मानव-धर्म सत्य, अहिंसा, स्वाश्रमोचित वेदाध्ययन, तप, श्रवण आदि तथा शरीर-निर्वाह के लिए कर्म आदि का त्याग अभिप्रेत नहीं है। यदि कर्म-त्याग के इस वास्तविक स्वरूप को समझ लिया जाय तो नीचे लिखे अनेक प्रश्न अपने आप सुलझ जाते हैं और उन प्रश्नों का कोई अवसर ही नहीं रह जाता।

(क)—कर्मसंन्यास-पूर्वक ब्रह्मविद्या-मार्गावलम्बी संन्यासी भिक्षाटन आदि कर्म क्यों करते हैं?

(ख)—संन्यासी ब्रह्म-विद्या के साधन रूप अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, धर्म-प्रचार करते हुए कर्म-त्याग का समर्थन कैसे करते हैं?

(ग)— संन्यासी यज्ञ, दान आदि कर्मों का विरोध क्यों करते हैं?

१६. शास्त्रोक्त निष्काम प्रवृत्ति का फल—निवृत्ति—

प्रवृत्ति-निवृत्ति का सहयोग

यज्ञ, दान, परोपकार, वर्णाश्रम-धर्म आदि के विषय में सकाम अथवा निष्काम शास्त्रीय दृष्टि लौकिक परोपकार तथा सुव्यवस्था के स्थापन-रूपी सामान्य प्रयोजन वाली कर्तव्य-दृष्टि से अत्यन्त भिन्न है। प्राकृत जनों की दृष्टि केवल लौकिक प्रभाव और सुव्यवस्था के लक्ष्य वाली ही होती है और इसीलिए इन कर्तव्यों का विधान किया करती है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि विशाल है। इसकी कर्तव्य-बुद्धि का मुख्य आधार लोकान्तरों तथा जन्मान्तरों में होने वाला शास्त्रोक्त प्रभाव है और लौकिक सम्पत्ति तथा सुव्यवस्था के साधन रूप से गौण है। गौण होते

हुए भी उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि अन्न, धन, राज्य आदि की सुव्यवस्था के विना किसी लौकिक, पारलौकिक अथवा परम पुरुषार्थ (मोक्ष रूपी साध्य) की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर भी साध्य और साधन का भेद होने से गौण तथा मुख्य-भाव तो रहता ही है। अतः इन शास्त्रोक्त कर्मों का पूर्ण फल शास्त्रोक्त-दृष्टि वाला ही प्राप्त कर सकता है। दोनों दृष्टि वालों को लौकिक फल तथा सुव्यवस्था समान रूप से इष्ट हैं।

पाप तथा भोग-वासनाएं परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में बाधा हैं। इनके अत्यन्त कम हुए विना ब्रह्म-विद्या के उपयोगी श्रवण और मनन आदि साक्षात् साधनों का निरन्तर हो सकना असंभव है। शास्त्रोक्त कर्म का अनुष्ठान ही पाप तथा भोग रूपी मलिन वासनाओं को सूक्ष्म करने का मुख्य साधन है। इसका आचरण गृहस्थ में रहते हुए निष्काम भाव से करना होता है। यही शुद्ध, उत्तम सेवा तथा परोपकार है। अनेक जन्मों के शास्त्रोक्त सकाम तथा निष्काम कर्मों (यज्ञादि) के अनुष्ठान से जब किसी व्यक्ति के प्राचीन पाप तथा भोगों के संस्कार सूक्ष्म हो जाते हैं, तब वह ब्रह्मविद्या के साधन, भजन आदि में निरन्तर अपने मन तथा समय को लगा सकता है। गीता में भी कहा है:—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ ७,२८

"पुण्य कर्म करने वाले जिन सज्जनों के पाप नष्ट हो चुके हैं, वे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्वों तथा मोह से मुक्त हुए २ दृढता पूर्वक अर्थात् विना बाधा अथवा अन्तर के भगवान् का भजन कर सकते हैं" (गीता अध्याय ५ के ६,७ तथा ११ श्लोक और अध्याय ६ का ३ श्लोक भी इस विषय में विचारणीय हैं)।

इस प्रकार सकाम तथा निष्काम कर्म के शास्त्रोक्त तात्पर्य को दृष्टि में रखते हुए यह समझना सरल है कि लौकिक सुव्यवस्था

के लिए शास्त्रीय निष्काम दृष्टि सामान्य, लौकिक, स्थूल, प्रत्यक्ष परोपकार और सुव्यवस्था सम्बन्धी प्राकृत दृष्टि की अपेक्षा कितनी शुद्ध, विशाल, स्थायी और दीर्घ-कालीन प्रभाव वाली है। इस महती सेवा का यह उपयुक्त फल मात्र है कि मनुष्य ब्रह्म-विद्या के साधनों में, निरन्तर यज्ञ आदि कर्तव्य की किसी बाधा के बिना, प्रवृत्ति वाला हो। इस प्रकार के कर्म के त्याग रूपी संन्यास से सामान्य मानवसमाज की सुव्यवस्था की हानि भी नहीं होती, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् ईश्वर ने प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूपी दोनों मार्गों का निर्माण संसार की सुव्यवस्था के लिए ही किया है। शास्त्र के विरुद्ध भोग-विलास में विशेष प्रवृत्ति ही संसार के लिए अत्यन्त हानि-प्रद है। शास्त्रीय प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों एक ही परम लक्ष्य के साधन हैं, इसलिए परस्पर सहकारी हैं और इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। शास्त्रीय प्रवृत्तिमार्ग सामान्य लौकिक सुव्यवस्था का साधक होता है और निवृत्ति-मार्ग केवल ब्रह्मविद्या-परायण महात्माओं की सहायता करता है, क्योंकि अन्न, राज्य आदि सामाजिक सुव्यवस्था के अभाव में कोई व्यक्ति ब्रह्म-विद्या के साधनों का अनुष्ठान नहीं कर सकता। निवृत्ति तथा संन्यास के विरोधी भी अपने पक्ष में यही कहा करते हैं। निवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन करने वाले महात्मा एक तो अपने तप, शुद्धाचरण तथा ब्रह्माभ्यास के द्वारा आध्यात्मिक वायु-मण्डल की सामान्यतया अप्रत्यक्ष शुद्धि करते हैं और दूसरे वे प्रवृत्ति-मार्गियों के लिए परम लक्ष्य की ओर सदा निर्देश करने का कार्य करते हैं, जिससे प्रवृत्ति-मार्ग केवल भोग-लिप्सा का ही कारण बन कर संसार का संहार करने वाला न बन जाय। आज कल यह संहार स्पष्ट दीख रहा है, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से शून्य वर्तमान की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति के सामने निवृत्ति का लक्ष्य नहीं रहा। इसी लिए सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सब

प्रकार की संस्थाएं कलह, क्लेश तथा अन्याय को हटा कर सुख-शान्ति की वृद्धि करने के स्थान में कलह आदि को बढ़ाने का कारण बन रही हैं।

इस विवेचना का सार यह है कि ब्रह्म-साक्षात्कार द्वारा परम इष्ट की सिद्धि करना ही शास्त्रीय परम दृष्टि या परम लक्ष्य है और इसी लक्ष्य को लेकर संपूर्ण शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। वानप्रस्थ तथा संन्यास का विधान केवल इस लक्ष्य के लिये ही है। ब्रह्मचर्याश्रम शास्त्रीय दृष्टि की प्राप्ति के लिए द्वार मात्र है। जो लोग भोग-वासना में आसक्त हैं और इसी कारण से साक्षात् परम लक्ष्य के मार्ग पर नहीं चल सकते, उनके लिए शास्त्रीय प्रवृत्ति रूपी गृहस्थाश्रम है। इस आश्रम में रह कर वे सकाम तथा निष्काम कर्मों का आचरण करते हुए पाप तथा भोग के संस्कारों को सूक्ष्म करते हैं और ब्रह्म-विद्या के साक्षात् मार्ग पर चलने की योग्यता भी प्राप्त कर सकते हैं और अपने अधिकार के अनुसार समय पर संन्यासाश्रम में प्रवेश के योग्य हो जाते हैं। सर्वसाधारण के लिए तो यही क्रम है। हां, कोई-कोई व्यक्ति पूर्वजन्म-कृत पुरुषार्थ से तथा परम शुद्ध संस्कारों के प्रभाव से गृहस्थाश्रम में भी परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके हैं।

१७. क्या प्राणीमात्र की सेवा ही भगवद्-भक्ति है ?—

कुछ लोग अबु बिन आदम आदि की कथाओं के आधार पर ऐसा कहते हैं कि ईश्वर उन पर प्रसन्न नहीं होता, जो उसका दिन रात भजन करते हैं, प्रत्युत ईश्वर की वास्तविक भक्ति लोक-सेवा में ही है। अतः साधन अवस्था हो अथवा सिद्धावस्था, सभी अवस्थाओं में निष्काम भाव से लोक-सेवा तथा परोपकार के अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य नहीं है। इस प्रकार की धारणा वाले लोग शास्त्र के उन शब्दों को भूल जाते हैं, जिनमें ब्रह्म के

साक्षात्कार के विना परम ध्येय की सिद्धि का निषेध किया गया है*, जहां ब्रह्म-विद्या के लिए तीनों एषणाओं के त्याग सहित भिक्षा-आचरणरूपी संन्यास का विधान मिलता है†, जहां यज्ञ, दान, तप आदि की अपेक्षा अनन्य-भक्ति को निकटतम साधन के रूप से भूरि-भूरि प्रशंसा पाई जाती है, अथवा जहां ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता तथा ज्ञान द्वारा कर्म के नाश का वर्णन आता है‡।

इस प्रसंग में मुण्ड० उ० २,२,५, विशेष रूप से विचारणीय है। वहां पर वर्णन आता है कि सर्वोत्कृष्ट, परम इष्ट, आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को छोड़ कर किसी अन्य पदार्थ के विषय में अपनी वाणी का उपयोग न करे। यहां वाणी के उपलक्षण रूप वर्णन से यह अभिप्राय है कि अपने संपूर्ण सामर्थ्य व चक्षु, वाणी, श्रवण, बुद्धि आदि इन्द्रियों का केवल ब्रह्म के विषय में ही उपयोग सदुपयोग है तथा अन्य विषयों की चर्चा आदि वर्ज्य है। जब वाणी आदि इन्द्रियों का अमृत-सेतु (ब्रह्म) के अतिरिक्त अन्यत्र उपयोग मात्र का निषेध है, तब अन्य यज्ञादि की क्या कथा? जन-सेवा आदि का लक्ष्य दुःख की निवृत्ति तथा सुख की वृद्धि ही हो सकता है। ब्रह्म के साक्षात् से संसार का दुःख-रूपी प्रवाह नितान्तशुष्क हो जाता है, तथा परमसुख की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, बुद्धिरूपी गुहा में उसके साक्षात्कार से सम्पूर्ण लौकिक कामनाओं की युगपत प्राप्ति होती है, अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति के समान अथवा अधिक अपरिच्छिन्न सुख की उपलब्धि होती है§। उसको प्राप्त करके

---

* श्वे० उ० ६,२०.

† बृ० उ० ४,४,२२.

‡ गीता ४,३७; ६,४६;४७; ११,४८; मुण्ड० उ० ३,१,८.

§ तै० उ० २,१,

मनुष्य सर्वोत्कृष्ट नित्यसुख से सम्पन्न होता है। वह ब्रह्मरस-रूप है। वह अनन्त-स्वरूप है। वाणी तथा मन वहां से लौट आते हैं अर्थात् वह सुख मन और वाणी की पहुंच से दूर है। उस आनन्द की उपलब्धि के लिए मन और वाणी के भी व्यापाररूपी विक्षेप का निरोध आवश्यक है, अन्य यज्ञादि के व्यापारों की तो बात ही क्या है ? अथवा, उस परम अनन्त सुख की मन और वाणी के द्वारा प्राप्त होने वाली किसी वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती§ ।

ब्रह्म-भजन ईश्वर की प्रसन्नता के लिए नहीं किया जाता। वह रस-रूप है, रस-राज है। उसके दर्शन के लिए अन्य सब प्रयत्न तथा साधन-रूपी भजन होता है, परन्तु एक बार दर्शन हो जाने पर प्रेम तथा भजन वैसे ही स्वाभाविक होता है, जैसे बच्चा मिठाई को चाहता है। उपर्युक्त विषय के सम्बन्ध में कैवल्योपनिषद् (३,१,३) में कर्मत्याग-रूप संन्यास का समर्थन, कठोपनिषद् (२,१५) में नियम, व्रत तथा धर्म का प्रयोजन—ब्रह्म-भक्ति अथवा ज्ञान, और मनुस्मृति (१२,१०४) में तप तथा विद्या के फल में भेद विशेष विचारणीय हैं।

१८. सिद्ध ज्ञानी का व्यवहार

ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर सिद्ध ज्ञानी के विषय में यदि उसके कर्तव्य-रूप से कोई चर्चा हो सकती है, तो मुण्डकोपनिषद् (२,२,५,) के वचन के आधार पर निश्चित यही है कि वह ब्रह्म-सम्बन्धी ही वार्तालाप करे तथा उसी सम्बन्ध में उपदेश करे, यद्यपि अन्य कोई यज्ञादि कर्म उसे किसी प्रकार से बन्धन में नहीं डाल सकता, और वह कमलपत्र के समान कर्म से लिप्त नहीं होता।

---

§ तै० उ० २, ७;९.

आत्म-साक्षात्कारवान् सिद्ध ज्ञानी का कोई कर्तव्य नहीं, क्योंकि उसने अपनी पूर्णता को अनुभव कर लिया है। उसे अपने से भिन्न और कुछ उपादेय नहीं। लौकिक भोग, मलिन-वासना-निवृत्ति तथा ब्रह्मज्ञान के विषय में कोई अपूर्णता उसे नहीं खटकती, जिसके लिए उसे किसी कर्म को साधनरूप में अवलम्बन करने की आवश्यकता हो। कर्तव्याकर्तव्य-रूपी विवेक तथा विवेक-जन्य कर्तव्य के अनुष्ठान की परिभाषा उसके विषय में कुण्ठित हो जाती है। एक पशु के सम्मुख कर्तव्याकर्तव्य का विचार उपस्थित नहीं होता और न ही कोई मनुष्य उसे ऐसी शिक्षा देने का यत्न करता है, क्योंकि उसका इष्ट तथा सामान्य सामर्थ्य ही उसके कर्म का निर्णायक है। इसके अतिरिक्त और कोई कर्तव्य-अकर्तव्य-निर्णायक बुद्धि ही उसके पास नहीं है। शास्त्र की परिभाषा में मनुष्य के लिए चाहे कोई कर्म पाप हो, परन्तु पशु तो "शक्ति ही सब कुछ है" इसी सिद्धान्त को ठीक समझता है। वह किसी व्यवहार के औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय शारीरिक बल के आधार पर ही किया करता है। परन्तु ज्ञानी का स्वभाव पूर्वाभ्यास के कारण इतना परिमार्जित तथा शास्त्रानुकूल होता है कि उसकी स्वाभाविक रुचि तथा शास्त्रादेश में कुछ अन्तर ही नहीं रह जाता। मनुष्य किसी पदार्थ, कर्म अथवा अवस्था के मोह या आसक्ति के वश ही अनुचित मार्ग का अनुसरण करता है। अथवा यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, इस मोह के आधार पर अन्याय-युक्त व्यवहार करता है। परन्तु ज्ञानी में तो हस्तामलकवत् आत्म-साक्षात्कार के कारण आत्मानात्म-भावना तथा आसक्ति का नितान्त नाश हो चुका होता है। यहां श्रेय ही स्वभाव से प्रिय लगता है। उसके लिए अज्ञानासक्त मनुष्य के समान श्रेय से प्रेय भिन्न नहीं है। अतः ज्ञानी के सम्मुख दो मार्ग ही नहीं हैं। उसको सभी

अवस्थाओं में एक ही व्यवहार का मार्ग दीखता है। उसे कर्तव्य तथा अकर्तव्य का विवेक करके कर्तव्य का ग्रहण नहीं करना पड़ता, क्योंकि जिसको सामान्य मानवीय या शास्त्रीय परिभाषा में धर्म कहा जाता है, वही उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी के लिए इस धर्म का आचरण ऐसा स्वाभाविक होता है जैसे अग्नि के लिए दाह का करना। जिस प्रकार अग्नि दाह करने के लिए किसी प्रयत्न या विवेक की अपेक्षा नहीं रखती, ऐसे ही ज्ञानी को भी धर्माचरण के लिए किसी कर्तव्य तथा अकर्तव्य के विवेक अथवा प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। अतः ज्ञानी के लिए साधारण शास्त्रोक्त कर्तव्य तथा अकर्तव्य लागू नहीं होते। उसकी स्थिति एक प्रकार से पशु की सी हो जाती है जो मोह के वश कर्तव्य तथा अकर्तव्य के विवेक-शून्य होने से अवस्थानुसार किसी मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। शास्त्रोपदेश के अधिकारी साधक के सम्मुख भला और बुरा, दोनों मार्ग उपस्थित होते हैं। वह शास्त्र-दृष्टि के बल पर शास्त्रोक्त धर्म तथा न्याय के मार्ग का अवलम्बन करता है। परन्तु ज्ञानी के सम्मुख स्वभाव से एक भला ही मार्ग उपस्थित होता है, जो उसे स्वाभाविक रूप से प्रिय है। शास्त्रीय परिभाषा में वही न्याय तथा धर्म है। अन्याय-मार्ग का उसके लिए प्रश्न ही नहीं है। वह किसी मानवीय परिभाषा के अनुसार प्रलोभन अथवा भय के प्रभाव से न्यायपथ को त्याग नहीं सकता है। वह प्रलोभन तथा भय को जानता ही नहीं। उसके लिए एक आत्म-दर्शन के प्रभाव से ये सब निस्तेज, तुच्छ तथा असत्य हो चुके हैं।

ऐसा ज्ञानी किसी अवस्था में कोई भी उचित व्यवहार कर सकता है, और लौकिक कार्य को निपुणता से कर सकता है। परन्तु संसार का परम हित इसी में है कि उस ज्ञानी से आत्म-

अनात्म ग्रन्थि को खोलने के लिए ब्रह्मविद्या का उपदेश ही ग्रहण किया जाय। इस प्रकार का ज्ञानी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे अमूल्य पारस मणि को पाकर सामान्य सांसारिक कार्यों की पूर्ति के लिए उसका उपयोग करने का आग्रह करने का मूल कारण गाढ अविवेक ही है। संसाररूपी सागर के ऐसे गम्भीरतम स्तर पर पहुंच कर—अन्तरतम मूलतत्त्व के दर्शन कर—इन ऊपर के स्तरों में आना और सुष्ठु व्यवहार कर सकना उसके लिए कुछ असम्भव नहीं होगा। परन्तु फिर भी जिस गम्भीरतम स्तर पर कोई विरला भाग्यवान् ही पहुंचता है, जो सामान्य संसार के लिए प्रायः रहस्यमय ही रहता है, अनन्त शास्त्र-श्रवण आदि करने पर भी जो पहेली नहीं खुलती, वरन् जितना सुलझाने का यत्न किया जाता है उतनी ही उलझती जाती है—ऐसे मूलतत्त्व के विषय में रहस्यमय गुत्थियों को सुलझाना ही उसका मुख्य कर्तव्य या स्वभाव है। मुण्डकोपनिषद् (२,५) के आधार पर साधक ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त अन्य विषयों में अपनी वाणी के प्रयोग का त्याग करता है। वह या तो वाणी का उपयोग ही नहीं करता, केवल मूकभाषा द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश करता है और या, यदि बोलता है, तो ब्रह्म के विषय के अतिरिक्त और कोई बात नहीं करता। यही उसका स्वभाव है।

ज्ञानी सब पापों के मूल अज्ञान को ज्ञान द्वारा नष्ट करता है। अतः उसका कोई कर्म, चाहे वह बाह्यदृष्टि से स्वाभाविक हिंसादि युक्त भी हो, शास्त्रोक्त दुःख-सुखरूपी फल उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिए यज्ञादि कर्मों से भी उसका कुछ अनिष्ट नहीं हो सकता। वह इनका अनुष्ठान कर सकता है और प्रवृत्ति-विषयक शास्त्रोक्त उपदेश भी कर सकता है। परन्तु यह उसका मुख्य कर्तव्य कदापि नहीं हो सकता। यह तो उसके सामर्थ्य, बुद्धि तथा योग्यता का ऐसा दुरुपयोग है, जैसे आयुर्वेद विद्या में

प्रवीण धन्वन्तरि को ओषधि कूटने के काम में लगा देना। ब्रह्मविद्या-रूपी पारस मणि से जो जन्मान्तर की अति भय-प्रद दरिद्रता को क्षण भर के स्पर्श तथा दर्शनमात्र से दूर करने का सामर्थ्य रखती है, पत्थर तोड़ने का काम लेने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इसका सदुपयोग तो ब्रह्मविद्या-रूपी रस का श्रवण द्वारा पान करने में ही है। ज्ञानी निस्सन्देह गृह, जाति, देश, विदेश आदि के सामान्य कार्य भी अपनी सूक्ष्म बुद्धि से साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक अच्छे प्रकार से कर सकता है। ये कार्य भी संसार में अपनी उचित उपयोगिता रखते हैं। संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जो अत्यन्त निकम्मा हो और जिसका कुछ भी उपयोग न हो। परन्तु ये सब कार्य ब्रह्म-ज्ञान की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट हैं। अतः ब्रह्म-ज्ञानी का सदुपयोग यही है कि मूल अविद्या की निवृत्ति के लिए ही उस से उपदेश ग्रहण किया जाय और उसे अपने जीवन का लक्ष्य मान कर उस के निमित्त प्रयत्न करने में हम लग जायें।

१९. कर्म विवेचन का निष्कर्ष

सब क्षेत्रों में औचित्य तथा अनौचित्य विचार को यदि प्राणिमात्र का स्वभाव न भी माना जाय, तो भी मनुष्यमात्र का स्वभाव तो इसे मानना ही पड़ेगा। कर्मक्षेत्र भी इस विचार से वञ्चित नहीं है। अति असभ्य जातियां भी इस विचार से खाली नहीं हैं। उन में भी कर्तव्य तथा अकर्तव्य सम्बन्धी भाव पाया जाता है। उन में कर्म के बाह्य आकार, स्वरूप, मानसिक भाव, फल, अन्तर्निहित आधारभूत सिद्धान्त, उद्देश्य, जीव, परलोक आदि विषयों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार से भेद पाया ही जाता है। उन में भिन्न २ कर्मों के विषय में उन के न्याय-अन्याय-रूपी होने का तुलनात्मक विचार अवश्य होता है। उनकी भाषा

में धर्माधर्म के पर्यायवाची शब्द पाये जाते हैं। उन को किसी परिमित क्षेत्र सम्बन्धी भौतिक विज्ञान का तथा संसार पहेली के आधारभूत अनु-भौतिक विज्ञान का भी कुछ न कुछ भान अवश्य होता है। जैसे ऊपर कहा गया है, सामान्यतया मनुष्यमात्र-व्यापी कर्तव्याकर्तव्य विचार की आधारशिला भी यही अनु-भौतिक विज्ञान ही हो सकता है। मनुष्य अनादिकाल से इन प्रश्नों पर विचार करता आया है कि क्या मेरा इस शरीर की उत्पत्ति के साथ ही अस्तित्व आरम्भ होता है तथा इसके साथ ही अन्त हो जायगा, अथवा मेरी कोई निरवच्छिन्न, त्रिकालाबाध्य सत्ता भी है ? यह भूमि ही केवल प्राणिमात्र का निवास-स्थान है या अन्य भी कोई ऐसे स्थान हैं, जहां सुख-दुःख अनुभव करने वाले प्राणी रहते हैं और सुख-दुःख के निमित्त स्वाभाविक चेष्टा करते हैं ?

देह की अवधि मात्र तक ही प्राणी का अस्तित्व है—यह विचार मानव-बुद्धि को कभी सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसका कारण केवल यही नहीं कि मनुष्य में निरन्तर जीवित रहने की इच्छा है और वह मरने से डरता है। परन्तु जन्म तथा नाश और जन्म से ही प्राणियों में सुख-दुःख का भेद, जीवनकाल में प्रयत्न की विफलता तथा अपने जीवन के सुख-दुःख के निर्माण करने में स्वतन्त्रता होने का औचित्य आदि समस्याओं का यह वाद (देहमात्र ही जीव है) कुछ उत्तर नहीं दे सकता। अतः मनुष्य के स्वतन्त्र विचार को भी देह से भिन्न स्वतन्त्र सुख-दुःख के भोक्ता जीववाद की सम्भावना प्रायः अधिक सन्तोषजनक सिद्ध हुई है। नवीनतम भौतिक विज्ञान भी इसी सिद्धान्त के मानने की ओर आकृष्ट हो रहा है। पृथ्वी से अतिरिक्त अन्य लोकों तथा उनके निवासी प्राणियों के सद्भाव के विषय में तो भौतिक विज्ञान का निर्णय निर्विवाद ही है। देह से भिन्न जीव

की स्वतन्त्र सत्ता तथा इस जन्म के समान जन्मान्तर मान लेने पर कर्म के वश अन्य लोकों में जन्म (गति) तो सिद्ध ही है। भौतिक-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक परमाणु तथा अन्य अनन्त संसार परस्पर सम्बन्धित हैं, आपस में एक दूसरे पर सब का प्रभाव होता है। आध्यात्मिक जगत् में इसका विस्तार हो सकता है। यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के निर्माण करने में स्वतन्त्र है, तो भी किसी न किसी रूप में एक प्राणी के विचार तथा कर्म आदि का प्रभाव अन्य संपूर्ण व्यक्तियों पर भी पड़ता ही है। उपर्युक्त भौतिक विज्ञान तथा अध्यात्म-विषयक मनुष्य की सामान्य तर्क-वितर्क-प्रधान बुद्धि के निर्णय को, जो सम्भावना के रूप में ही होता है, परम प्रमाण के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। कारण, सम्भावना कभी निश्चित सिद्धान्त नहीं बन सकती। परन्तु यह केवल इनके अनुयायिओं के लिए संकेत है कि इनकी प्रगति भी शास्त्रोक्त सिद्धान्त की ओर है।

मनुष्य देह से भिन्न जीव की स्वतंत्र सत्ता परलोक-गति आदि के विषय में सम्भावना मात्र को छोड़ भी नहीं सकता, क्योंकि यह भविष्य में अपने बने रहने की सम्भावना ही मनुष्य जीवन में आशावाद, सन्तोष तथा पुरुषार्थ का आधार है। यदि मनुष्य को अपने भाग्य-निर्माण में स्वतन्त्र होने की संभावना भी न रहे और शरीरान्त के साथ ही मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयत्नों के विफल तथा अधूरे रह जाने की स्थिति को स्वीकार किया जाय, तो निराशावाद ही स्वाभाविक तथा विचारयुक्त ठहरता है। परन्तु मनुष्य सम्भावना मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। पूर्ण सन्तुष्टि तो निश्चित, असंदिग्ध, निर्भ्रान्त विचार (सिद्धान्त) से ही हो सकती है। इसी आकांक्षा की पूर्ति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार ईश्वर के अनादि, अनन्त,

निर्भ्रान्त, असंदिग्ध, प्राणवत् निरायास, स्वतःसिद्ध, प्रत्यक्षज्ञान का प्रकाश करने वाली वेदरूपी वाणी से होती है। और, श्रुति की शिक्षा द्वारा परिमार्जित, संस्कृत, सुतीक्ष्ण तथा सूक्ष्म बुद्धि से सम्पन्न प्राचीन ऋषि-मुनि तथा वर्तमानकालिक महात्मा अपने अपने अनुभव के आधार पर इस श्रुति-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जीव, परलोक, लोक-लोकान्तर तथा कर्म के विश्वव्यापी प्रभाव को देखते हुए, केवल मानव-बुद्धि के लौकिक, स्थूल, बाह्य सुख-दुःखादि के आधार पर कर्तव्य तथा अकर्तव्य के निर्णय करने की शैली अत्यन्त अधूरी तथा भ्रान्त है और क्रियात्मक रूप से भी इसका कुछ उपयोग नहीं है।

असहाय स्वतन्त्र मानव-बुद्धि का उपर्युक्त जीवादि सम्बन्धी सिद्धान्त की दृष्टि से विश्वव्यापी, अमित, स्थूल तथा सूक्ष्म प्रभाव वाले कर्म के सम्बन्ध में, कर्तव्य तथा अकर्तव्य के निर्णय के विषय में और परलोक में होने वाली भिन्न २ गतियों के कारण कर्म के स्वरूपादि विषय के निर्णय करने में कुण्ठित हो जाना स्वतःसिद्ध ही है। अतः जब हम यह घोषणा करने का साहस करते हैं कि स्वतन्त्र मानव-बुद्धि ही कर्तव्य तथा अकर्तव्य के निर्णय करने में असंदिग्ध प्रमाण है, हमारा ऐसा कथन संकुचित सामान्य बुद्धि के दुराग्रह के कारण ही होता है।

इस से यह प्रमाणित होता है कि जैसे श्रुति मूल तत्त्व के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है, वैसे ही वह जीव, परलोक, कर्म के स्वरूप तथा फलादि के विषय में भी परम तथा अपूर्व प्रमाण है। अथवा वे गिने-चुने महात्मा लोग इस विषय में प्रमाण हो सकते हैं, जिन्होंने इन तथ्यों के किसी अंश का अनुभव कर लिया है। परन्तु यह उन महात्माओं का ही जन्म-सिद्ध अथवा किसी अन्य कारण-वश विशेषाधिकार नहीं है; अपि तु, जो कोई भी चाहे, श्रुति-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ

ऐसा बन सकता है। यह द्वार सब के लिए खुला है। परन्तु कार्य-क्षेत्र अति विस्तृत है और एक व्यक्ति किसी एक विशेष अंश का अनुभव करने में ही समर्थ होता है।

२०. *श्रुति के आधार पर कर्म के सकाम तथा निष्काम स्वरूप के विवेचन का निष्कर्ष*

(क) शास्त्रोक्त सकाम कर्म—

श्रुति में कहे हुए सामान्य मानवधर्म--सत्य, अहिंसा आदि—वर्णाश्रमधर्म के उचित अनेक धर्म--नित्य, नैमित्तिक, यज्ञ, दान, तप आदि—तथा अध्ययन, अध्यापन, प्रजापालन, वाणिज्य आदि और अन्य सुव्यवस्था-सम्पादक प्रबंध आदि सकाम कर्मों का फल अन्य भू आदि लोकों में सुख-दुःख की प्राप्ति के रूप में होता है। लौकिक सुख-दुःखादि प्रायः पूर्वजन्म-कृत कर्मों के फल हैं। वर्तमान कर्म का लौकिक फल नाममात्र होता है। वर्तमान काल के कर्म का फल सुव्यवस्था आदि, प्रधानतया परलोक में प्राप्त होने वाले भोगों के साधन यज्ञादि सम्पादन के लिए ही है। यह सुव्यवस्था आदि उसका मुख्य या प्रधान लक्ष्य नहीं है।

शास्त्र का यह सिद्धान्त, कि धर्म का फल सुख तथा ज्ञान होता है, परलोक में तथा इस लोक में भी कालान्तर में होने वाले फल की दृष्टि से है। इस बात को भूल कर ही मनुष्य धर्म-फल के निर्णय में भूल करता है और प्रत्यक्ष फल के लोभ में आकर शास्त्रनिषिद्ध कर्म करता है। यह तो कर्म-फल के सिद्धान्त का दुरुपयोग मात्र है कि कर्म का फल परलोक में होगा। लौकिक फल प्रारब्ध के वश है, ऐसा मान कर मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित वर्तमान धर्म की अवहेलना करे, ऐसा अविवेक वश ही हो सकता है। इसका असली रूप यह है कि मनुष्य को अपने वर्णाश्रमोचित धर्म का पालन करते समय

अपने या पराए लौकिक सम्पत्ति रूपी फल का भाव मन में नहीं रखना चाहिए अर्थात् सकाम धर्म प्रायः लौकिक धन, जन, सम्पत्ति, मान, वैभव की वृद्धि-ह्रास की अपेक्षा को छोड़कर ही करना चाहिए। अन्यथा धर्मानुष्ठान ही नहीं बन सकेगा। आजकल के निषिद्ध आचरण का मुख्य कारण यह भूल ही है।

धर्मदृष्टि तथा लौकिक लाभ की दृष्टि के अन्तर को उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, कोई व्यापारी सत्य का प्रयोग इस भाव से करता है कि ऐसा आचरण करने से उसके व्यापार की उन्नति होगी, तो इस भावना से किया गया धर्माचरण परलोक में सुखरूपी फल को उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि यह आचरण शास्त्रभावना से शून्य है। धर्मानुष्ठान शुद्ध धर्मभावना से किया जाये और इस लोक में होने वाले सुख-दुःख को प्रारब्ध के वश माना जाये, तभी धर्म का फल लोकान्तर में होता है। अर्थात् शास्त्रोक्त सकाम कर्म भी तभी निष्पन्न होता है, जब प्रत्यक्ष वृद्धि, हानि, दिखलावा, मान और बदले [प्रत्युपकार] के भाव से प्रेरित न हो। यही सच्चा शास्त्रोक्त सकाम धर्म है। वास्तविक सकाम कर्म का फल, अधिकार के अनुसार, मनुष्य, पितृ तथा देव, इन तीनों लोकों में व्याप्त है। शास्त्र-दृष्टि-सम्पन्न ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार के पश्चात् इसी लक्ष्य के लिए इसके साधन काम्य-कर्म-प्रधान गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। सामान्य लोक-हित के जितने कार्य हैं, उनका समावेश यज्ञ में हो सकता है। परन्तु अपने अथवा दूसरों के प्रत्यक्ष विद्यमान लाभ पर दृष्टि न रखते हुए इनका अनुष्ठान करना शास्त्रोक्त सकाम कर्म की गणना में आ सकता है।

(ख) निष्काम कर्म—

साधनरूप में निष्काम कर्म के अनुष्ठान का मुख्य स्थान भी गृहस्थाश्रम ही है। शास्त्रदृष्टि से प्रायः दृढ वैराग्यवान् ही अन्य

आश्रमों का अधिकारी है। अथवा इन आश्रमों में ब्रह्मविद्या के साधनों के अनुष्ठान के लिए स्वाश्रमोचित धर्म का पालन किया जाता है। इनमें अनन्त यज्ञों का विधान भी नहीं है। दृढ वैराग्यवान गृहस्थ का संन्यास आश्रम में मुख्य अधिकार है। वर्तमान आश्रम-धर्मों की अव्यवस्था के कारण अथवा अन्य किसी कारण से वह इसे धारण न करे, तो यह अपवाद ही है। अतः अदृढ वैराग्यवान् गृहस्थी को दृढ जिज्ञासा के लिए और दृढ वैराग्यवान् गृहस्थी को भी लोक-मर्यादा के लिए गृहस्थाश्रमोचित कर्म को निष्काम भाव से करने का अधिकार है। कारण, निष्कामकर्म—यज्ञ, दान, तप आदि—प्राक्तन पाप के संस्काररूपी मल को धो डालते हैं। दृढ वैराग्य हो जाने पर निवृत्तिमार्ग स्वाभाविक है और श्रुति इसका विधान भी प्रवृत्ति-मार्ग के समान लोक-रक्षा के लिए ही करती है। यह अधिकार दीर्घकालिक, शुद्ध, निष्काम यज्ञादि के आचरणरूपी प्रवृत्तिमार्ग का ही फल है। और संन्यास आश्रम प्रवृत्तिमार्ग वालों को परम लक्ष्य की ओर सदा आकृष्ट करता रहता है। अतः प्रवृत्ति शुद्ध हो कर संसार की रक्षा का कारण बनती है, न कि संसार के संहार का। इसके अतिरिक्त संन्यासी शुद्ध आचरण तप आदि के द्वारा सूक्ष्म अध्यात्म वायुमण्डल को पवित्र भी करता है। इसलिए इन अनेक कारणों से प्रवृत्तिमार्ग का भी बहुत उपयोग है।



द्वितीय परिच्छेद

वैराग्य

१. तृष्णा तथा वितृष्णा

सकाम तथा निष्काम कर्मों का विवेचन हो चुका। प्राकृत, निरंकुश, राग-मोह-प्रयुक्त स्वाभाविक कर्म की अपेक्षा शास्त्रोक्त सकाम कर्म श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तथा वरणीय है।

प्रजापति के प्रथम दो उपदेशों दया तथा दान में सम्पूर्ण सकाम कर्म का समावेश है। इसके द्वारा मनुष्य मृत्यु अर्थात् निकृष्टतम कीट पतंगादि योनियों की अज्ञान तथा कष्ट से युक्त गति से, जो निरंकुश स्वाभाविक कर्म का अनिवार्य फल है, बच जाता है। इसके द्वारा मनुष्य शास्त्र-वर्णित पितृ आदि लोकों की मध्यम तथा उत्कृष्ट गति को प्राप्त होता है। परन्तु ये सब प्रकार की गतियां हैं सांसारिक। इसमें सन्देह नहीं कि इनका उपदेश प्रजापति ने किया और यह दृष्टि भी शास्त्रोक्त ही है। इस पर आरूढ हुए विना और इसके अभ्यास से उपयुक्त सामर्थ्य प्राप्त किये विना मनुष्य अन्य शास्त्रोपदेश के अनुसार आचरण नहीं कर सकता और उसके फल से वञ्चित रह जाता है। इस प्रथम शिक्षा—अहिंसा तथा दान—के विना अन्यत्र किया गया सब परिश्रम निष्फल जाता है।

परन्तु दया तथा सामान्य दान मात्र पर ही जिन की अध्यात्म दृष्टि रुक जाती है, इस सामान्य व्यवहार शुद्धि में ही जो कृत-कृत्यता मान बैठते हैं, उनकी यह सन्तुष्टि अज्ञानमूलक होने से परम लक्ष्य की दृष्टि से अनर्थकारी है। यह कर्मसम्बन्धी शास्त्रदृष्टि निकृष्टतम मृत्यु की असंदिग्ध अमृतरूपी ओषधि अवश्य है, परन्तु यह मृत्युमात्र की ओषधि नहीं। इससे मनुष्य दिव्य,

रमणीक, सुखद, दीर्घ-काल तक स्थायी लोकों को प्राप्त करता है। परन्तु संसारमात्र का परिणाम—धर्मरूपी दोष—तो वहां भी है, अर्थात् पतन (मृत्यु) का अधिकार तो वहां भी रहता है। इसलिए परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए मृत्यु तथा कष्टमय संसार से वैराग्य के द्वारा परम, अमृत, अनादि, अनन्त, भूमानन्द की प्राप्ति किये बिना निरायास स्थिति, अलंवृत्ति और परम तृप्ति असंभव है। जैसे पूर्व वर्णित हुआ है, निष्कामकर्म—यज्ञ, दान, तप आदि—का अनुष्ठान भी पूर्वाभ्यास वश पाप तथा भोगतृष्णा के संस्कारों को क्षीण करके दृढ वैराग्य व वितृष्णा के सम्पादन के लिए ही है। उसके बाद इसका भी (आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से) कुछ उपयोग नहीं रहता। कामना रहते हुए संसार-गति अनिवार्य है (मुण्डक उपनिषद् ३,२,२)। साधक वितृष्णा व वैराग्य से एक विलक्षण अनुपम शान्ति का अनुभव करता है, जो भोग-कामी को भोग द्वारा कभी प्राप्त नहीं होती। कहा भी है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
गीता २,७०

"सब ओर से पूर्ण, अचल, ठहरे हुए समुद्र में जिस प्रकार सब ओर से नदियां प्रविष्ट होती हैं परन्तु उसे विचलित नहीं करतीं, इसी प्रकार जिस स्थिर-मति पुरुष के मन में सब ओर से कामनाएं प्रविष्ट हो कर भी उसे विचलित नहीं कर पातीं, वही शान्ति को प्राप्त होता है, कामनाओं को चाहने वाला नहीं।"

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ गीता २,७१

"जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्याग कर निःस्पृह हो जाता है, वह ममता-शून्य तथा अहंकार-रहित व्यक्ति ही शान्ति को प्राप्त हो जाता है।" (देखें—महाभारत शान्तिपर्व १२,१७४,४६ *)

वैदिक तथा अवैदिक मोक्ष ग्रन्थों में परम शान्ति के साधन के रूप में वैराग्य को विशेष महत्त्व दिया गया है और वैराग्य-प्राप्ति के उपायों का भी सविस्तर निरूपण है। वैदिक ग्रन्थों के उपर्युक्त वचन इस विषय में प्रमाण हैं।

२. ब्रह्मविद्या में वैराग्य का प्रयोजन

वैराग्य का ब्रह्मविद्या में क्या उचित स्थान है, इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता है। श्रीमद्भगवद्गीता तथा योगदर्शन में वैराग्य को चित्त के निरोध या मन को जीतने का उपाय बतलाया गया है। गीता (६,३५) में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वायु के समान बलिष्ठ, चञ्चल तथा प्रमथनशील मन को अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि केवल हठ ही इसकार्य के लिए पर्याप्त नहीं है। केवल हठ से तो मन के चञ्चलतारूपी वेगों में असहनीय वृद्धि हो जाती है। अतः इसके लिए दोषों के विचाररूपी वैराग्य की सहायता की भी आवश्यकता है। इसी विषय में पतञ्जलि मुनि के योगदर्शन के निरोध-उपाय-विषयक सूत्र (१,१५) की व्याख्या में भगवान् व्यास वैराग्य तथा अभ्यास के भिन्न २ प्रयोजन वर्णन करते हुए वैराग्यरूपी साधन की अनिवार्यता, इसका ब्रह्मविद्या में प्रयोजन, स्थान, महत्त्व तथा उपयोग बतलाते हैं। योगदर्शन के सूत्र (१,१२) में कहा

---

* इन्द्रोऽपि न सुखी तादृग् यादृग् भिक्षुर्हि निःस्पृहः।
कोऽन्यः स्याद् इह संसारे त्रिलोकीविभवे सति॥

गया है:—'चित्तवृत्तियों के निरोध रूपी योग से द्रष्टा (आत्मा) की स्वरूप में स्थिति होती है। चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है।' व्यासभाष्य में इस सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचन है:—'चित्त निरन्तर वृत्ति-प्रवाह-रूप धारा होने से नदी के समान है। यह दो प्रकार से बहती है, अथात् इसकी धारा दो भिन्न मार्गों का अनुसरण कर सकती है। यह चित्त-नदी कल्याण (इष्ट-मोक्ष)-प्रवाह वाली अथवा पाप-प्रवाह वाली होती है। जो चित्त का प्रवाह आत्म-अनात्मविवेक रूपी प्रदेश से कैवल्य-मोक्ष-रूपी प्रदेश पर्यन्त वहता है, वह कल्याणवह अर्थात् कल्याण प्राप्त कराने वाला है। और, जो आत्म-अनात्म-अविवेक-रूपी प्रदेश से संसार पर्यन्त बहता है, वह पापवह अर्थात पाप की ओर लेजाने वाला है। वैराग्य से विषय—संसार-स्रोत—को न्यून किया जाता है, सुखाया जाता है अथवा निरुद्ध किया जाता है और विवेक-दर्शन-रूपी अभ्यास के द्वारा विवेक स्रोत का उद्घाटन किया जाता है, उसका प्रवाह जारी किया जाता है। चित्त-वृत्ति का निरोध इन दोनों उपायों के अधीन है, केवल एक से निर्वाह नहीं हो सकता'। उदाहरण के लिए एक ऐसा तालाब लें, जिसमें एक नाली से गन्दा और दूसरी से शुद्ध जल गिरता है। तालाब में शुद्ध जल प्राप्त करना हो तो केवल शुद्ध नाली खोल देने या केवल गन्दी नाली बन्द कर देने से काम नहीं चलता। उसके लिए तो दोनों नालियों का समुचित उपयोग करना होगा, अर्थात् गन्दी को बन्द कर देना और साथ ही शुद्ध को खोल देना होगा। वैराग्य के सम्पादन किये विना, केवल नित्यानित्य वस्तु अथवा आत्मा-अनात्मा का शुष्क भेद-विचार बोध-रूपी फल को उत्पन्न करने तथा शोक-मोह की निवृत्ति तथा परम तृप्ति उत्पन्न करने में असमर्थ है। वैराग्य न हो तो अन्य विचारक्षेत्र में अभ्यास के द्वारा, सूक्ष्म

तथा तर्क आदि से दक्ष बुद्धि के आधार पर आत्म-अनात्म-विचार, आत्म-अनात्म-विषयक शास्त्र के श्रवण-मनन की योग्यता तथा अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा विचार निष्फल तो होता ही है, साथ-साथ वह महान् अनर्थ का हेतु भी बन जाता है, जैसे अबोध बालक के हाथ में तीक्ष्ण चाकू। सांख्य दर्शन (३,३६) "वैराग्यादभ्यासाच्च" का भी यही भाव है।

३. उपनिषद् तथा गृहस्थाश्रम

इस विषय के सम्बन्ध में कठ (४,१; २,२३) श्वेताश्वतर (६,२२) उपनिषद् प्रमाण हैं। इसी प्रकार बृहदारण्यक (४,४,२३) में नित्यब्रह्म की कर्म से निरपेक्ष महिमा तथा उसके दर्शन के लिए अन्तरंग साधन, शम-दम आदि का विधान है। वहां पर जनक-याज्ञवल्क्य संवाद समाप्त होता है और जनक परमलक्ष्य की सिद्धि से कृतकृत्यता-रूपी परम तृप्ति को अनुभव करके अपनी राज्य-सम्पत्ति तथा अपने आपको भी दासरूप से याज्ञवल्क्य गुरु की तुच्छ भेंट के रूप में अर्पण करता है। वहां पर वे वचन हैं, जो ब्रह्मविद्या के अधिकारी के लक्षण, साधन-चतुष्टय विवेकादि का सामान्यतया तथा शम-दम आदि षट्-सम्पत्ति रूप अन्तरंग साधन का विशेष आधार हैं। इनकी विशेष व्याख्या पूर्वोक्त अधिकारी प्रकरण द्वितीय खण्ड के तीसरे अध्याय में आ चुकी है। इन सबकी ओर लोग आजकल प्रायः विशेष ध्यान नहीं देते। प्रायः अनधिकारी पुरुष ब्रह्मविद्यादि उपनिषद्-ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वे अनधिकारी होने से सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या के गूढ रहस्य को न समझ कर अनेक वचनों का उनके वास्तविक अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ को ग्रहण करते हैं। वे ब्रह्मविद्या के सच्चे फल, उन्नति, परम तृप्ति, परम शान्ति तथा दिव्य व्यवहार की सिद्धि, नहीं कर सकते। उनकी यह विद्या

वृथा श्रम मात्र तो होती ही है, साथ ही उनको इस अनधिकार चेष्टा का अवनति, तृष्णावृद्धि, घोर अशान्ति तथा सामान्य शास्त्रदृष्टि के विरुद्ध व्यवहार के रूप में कटुफल मिलता है। केवल कुतूहल, सूक्ष्मबुद्धि के अभिमान तथा अन्य सांसारिक लोभ के वश किया गया ब्रह्मविद्या का अध्ययन कदापि सफल नहीं होसकता। दृढ वैराग्ययुक्त संन्यासी को ही ब्रह्मविद्या का अधिकार है। इस विषय की उपर्युक्त व्याख्या अनेक शास्त्र-वचनों से सम्यक् पुष्ट होती है। इस बारे में ब्रह्मसूत्र ३,३,४, (साधन अध्याय, अंगपाद), भाष्यकार शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों के वचन परम आदरणीय हैं। श्रीभाष्यकार ने भी उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य में अनेक स्थलों पर इसी का प्रतिपादन किया है।

यदि गृहस्थी को भी साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होने से, जनकादि के इने गिने उदाहरणों के आधार पर, ब्रह्मविद्या का अधिकारी मान लिया जाय तो भी यह अपवाद रूप ही होगा, सर्वसाधारण नियम नहीं हो सकता। क्योंकि गृहस्थ में प्रवेश ही कामना के वश होता है। और उपनिषद्-विद्या का विषय अति गूढतम ब्रह्मतत्त्व है। विचारवान् लोग स्वयं निश्चय कर सकते हैं कि इस अपवादरूप उदाहरण को सामान्य नियम बनाकर साधारण गृहस्थ आश्रमी नर, नारी, युवा, वृद्धों, गीता की परिभाषा में कामकामियों को इस विद्या की दीक्षा लेना तथा देना कहां तक उचित है ? इस से विद्या के सामर्थ्य तथा महत्त्व की हानि होती है और नास्तिकता की वृद्धि होती है। यह युग अन्य अनेक कारणों से वैसे ही नास्तिकता-प्रधान है, अतः इस प्रकार ब्रह्मविद्या जैसी परम पवित्र विद्या को भी नास्तिकता की वृद्धि का कारण नहीं बनाना चाहिए। ब्रह्मविद्या की सफलता के लिए साधन-

चतुष्टय में से वैराग्य का महत्त्व श्रीभाष्यकार विवेकचूडामणि में इस प्रकार वर्णन करते हैंः—

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥
एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तिमुमुक्षयोः ।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता ॥

"जिस भाग्यवान् अधिकारी में वैराग्य तथा मुमुक्षा तीव्र तथा दृढ विद्यमान होते हैं, उसके ही अन्य शम दमादि अन्तरंग साधन ब्रह्मसाक्षात्कार रूपी फल वाले होते हैं। परन्तु जहां पर ये दो साधन मन्द—शिथिल—होते हैं उनके शम दम तथा अन्तरतम श्रवणादि साधन मरुभूमि के जल के समान आभास (प्रतीति) मात्र ही होते हैं, अर्थात् सामर्थ्यहीन आकार मात्र होते हैं, कुछ फल उत्पन्न नहीं कर सकते।"

इसी ग्रन्थ में दूसरे स्थान पर वैराग्यादि साधनों की अनिवार्य आवश्यकता अन्वय-व्यतिरेक से निरूपण की गयी है।

साधनान्यत्रचत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति ॥

"विचारशील ब्रह्मवादियों ने ब्रह्मविद्या के अधिकार की जिज्ञासा के लिए वैराग्यादि चार साधनों का कथन किया है। जिन के होने पर ही ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध होती है (अन्वय), तथा जिनके न होने पर ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध नहीं होती है' (व्यतिरेक)। साधन-चतुष्टय के भाव तथा अभाव में ब्रह्मनिष्ठा का भी भाव तथा अभाव होता है। इनका तिल और तेल के समान अविना-भाव सम्बंध है। सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह में भी इसी अर्थ से मिलता जुलता वचन कहा है कि 'वैराग्यादि की किञ्चित्

न्यूनता से भी फल का अभाव हो जाता है। जो बुद्धिमान् साधन-चतुष्टय सम्पत्ति से युक्त होता है, उसे ही ब्रह्मविद्यारूपी फल की सिद्धि प्राप्त होती है। जहां किञ्चित् भी साधनों में कमी होती है वहां नहीं। परम ऋषियों ने इस लक्ष्य के लिए चार साधन कहे हैं, जिन के होने से सिद्धि होती है और जिनके अभाव में कदापि नहीं होती। यह अति निश्चित है, ध्रुव है तथा अटल है।"

श्री शंकराचार्य ने इसी प्रकार के अनेक वाक्य अन्यत्र प्रकरणग्रन्थों में लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र (१,१,१) के भाष्य में वह वन्दनीय ब्रह्मविद्या के आचार्य लिखते हैं:—'तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया: ऊर्ध्वम् च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये' अर्थात् धर्म-जिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा का कोई पूर्वापर कार्य-कारण रूप (अविनाभाव) सम्बंध नहीं है, क्योंकि धर्म-जिज्ञासा (पूर्वमीमांसा) के पूर्व (विना धर्मजिज्ञासा के भी) अथवा अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा की सम्भावना हो सकती है। परन्तु साधनचतुष्टय के होने पर ब्रह्मजिज्ञासा तथा ज्ञान (परोक्ष अथवा अपरोक्ष) का होना संभव है। इस के विपर्यय में अर्थात् साधन-चतुष्टय के अभाव में जिज्ञासा तथा ज्ञान नहीं हो सकते। यहां पर भी अन्वय-व्यतिरेक से साधन-चतुष्टय तथा जिज्ञासा अथवा ज्ञान में हेतु-हेतुमद्-भाव तथा कार्य-कारण-भाव सिद्ध किया है, जिसका कि ऊपर प्रकरणग्रन्थों में उल्लेख है। अर्थात् कुतूहल के वश कोई ब्रह्म-विचार में प्रविष्ट हो तो उसका साक्षात्काररूपी फल कदापि नहीं हो सकता। आनन्दगिरि आदि टीकाकारों ने भी प्रायः इस पंक्ति का इसी प्रकार का अर्थ किया है कि साधन-चतुष्टय के अभाव में जिज्ञासा सच्ची नहीं होती। वह जिज्ञासा आभासमात्र, सामर्थ्य-हीन होती है। जैसे चित्र की गौ से सच्चा दूध मिलना असंभव है। किसी अन्य प्रलोभन

तथा भयरूपी प्रतिबन्धक के आने पर विचार आदि सब छूट जाते हैं, अथवा वह शब्दब्रह्म का ज्ञान प्रलोभन की पूर्ति का साधन ही बन जाता है, जो हृदय-ग्रंथि को दृढ करता है तथा नाश कभी नहीं करता। वैराग्यादि के अभाव में श्रवणादि की अनधिकार चेष्टा का परिणाम केवल वृथा श्रममात्र ही नहीं होता, प्रत्युत इसका अति कटु दुष्परिणाम होता है, जिसका वर्णन परम सुन्दर भावपूर्ण शब्दों में भाष्यकार प्रकरणग्रन्थ शतश्लोकी में ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय की चेतावनी के लिए करते हैं:—

"जैसे गीला काष्ठ अग्नि से स्पर्श होने पर भी सहसा नहीं जलता और सूखे काष्ठ को अग्नि जलाता है। इसी प्रकार अपने वर्णाश्रम-कर्म, प्रजापालन, उत्पादन आदि तथा धन के द्वारा अनेक यज्ञ, दानादि करने से संस्कृतचित्त भी विषयों से भीगा होने के कारण ज्ञानाग्नि का सहसा स्पर्श नहीं कर सकता। सब से पहले उसे वैराग्यरूपी धूप में शुष्क करना आवश्यक है, फिर ज्ञानाग्नि का स्पर्श पाते ही तुरन्त आनन्द-प्रकाश-स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।"

इसी लिए शुद्ध (सात्त्विक तथा दृढ) वैराग्य को मुख्य कहा गया है। उसी से ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार वेदान्त-सम्प्रदाय के आचार्यों के अनेक वचन इस विषय के पाये जाते हैं। उपदेश अधिकार के अनुसार ही सफल होता है। केवल ब्रह्मविद्या के महत्त्वसूचक वचनों के प्रलोभन से कुतूहलवश, आत्मा असंग है, निर्लेप है, इत्यादि विचार प्रधान होने से तथा स्थूल दृष्टि से अन्य व्यवहार सम्बन्धी शास्त्र की अपेक्षा सरल प्रतीत होने से उपनिषद् के श्रवण आदि में अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए। यदि ब्रह्मविद्या के महत्त्व का आकर्षण प्रबल हो, तो इस की सफलता के लिए पहले साधन-सम्पत्ति का संग्रह करना चाहिए। तदनन्तर ही वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन में

प्रवृत्त होना उचित है। अन्यथा ब्रह्मविद्या की शक्ति सामर्थ्य-हीन हो जाती है, तथा नास्तिकता की वृद्धि होती है। गुरु का सम्पूर्ण श्रम व्यर्थ हो जाता है। टिप्पण में दिये हुए श्रुति तथा मनु के वचन इस सम्बंध में विचार तथा अनुष्ठान करने के योग्य हैं*।

४. वैराग्य का उपाय—भक्ति

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि दृढ वैराग्यादि की आवश्यकता केवल ब्रह्म तथा उसके अन्तरतम साधनों के प्रतिपादन करने वाले विचार-प्रधान उपनिषदादि शास्त्रों के श्रवण मनन के लिए है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि जिसे दृढ वैराग्य नहीं, वह किसी प्रकार ईश्वर-पूजा तथा भक्ति आदि का अनुष्ठान न करे। स्वाधिकारोचित ब्रह्म-पूजा का अधिकार तो मनुष्यमात्र को है। इसके विना तो वैराग्य का दृढ होना भी असंभव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। केवल विचार-प्रधान ब्रह्म-विद्या के विषय में ही यह कथन है कि दृढ वैराग्यवान् को ही इसमें अधिकार है, अन्यथा पतन का भय है।

५. वैराग्य तथा ब्रह्मपूजा—भक्ति—ईश्वर प्रणिधान

विषय-भोग में दोष-बुद्धि से अध्यात्म मार्ग का आरम्भ

---

* इदमष्टोत्तरशतं न देयं यस्य कस्यचित्।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै॥ मुक्तिकोप० १,४७
मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते।
गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन॥ ४८
सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते।
मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे॥ ४९.
विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥ मनु २,११३

होता है और आस्तिक शास्त्र की दृष्टि के अनुसार सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा की उपलब्धि से इस मार्ग का अन्त होता है। इन दो स्थितियों के बीच साधक की स्थिति के अनुसार साधनों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद हो जाता है।

लक्ष्य तो पराभक्ति है, जो पर-प्रेम अथवा रसरूप ही है। यह भक्ति की पराकाष्ठा है। यहां साध्य साधन का भेद नहीं रहता। आनन्दस्वरूप परमात्मा के दर्शन द्वारा परम रस का पान कर, सारा संसार नीरस हो जाता है। साधक परम रस में दिन-रात छका रहता है। संसार तथा अपने आपे को भूल जाता है। रसरूप ही हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति से पूर्व ही अनेक शास्त्र-निर्दिष्ट उत्तम साधन यज्ञ, दान, तप, ईश्वर-समर्पण अथवा पूजाभावना, छूट जाते हैं। इन से उपेक्षा हो जाती है। ऐसी अवस्था को प्राप्त महात्मा का इन सब साधनों को छोड़ देना तो सहज ही है। कभी २ वे परम लक्ष्य की दृष्टि से इन का खण्डन भी कर देते हैं। शास्त्र में कई स्थलों पर ऐसे ऊंचे अधिकारियों की दृष्टि से निष्काम कर्म, वैराग्य, योग तथा (गौण) भक्ति का भी खण्डन पाया जाता है। ऊंचे अधिकारियों को तो इन साधनों द्वारा, जो आध्यात्मिक उन्नति होनी थी, वह हो चुकी। उनका मन शुद्ध तथा एकाग्र हो चुका। अब ये साधन उनके परम लक्ष्य में बाधा रूप हैं। उनको साधन के ही निन्यानवे के फेर में पड़ा रहना ठीक नहीं है। साधन साधन ही है। परमलक्ष्य की ओर उन्हें अग्रसर होना चाहिए। उन की दृष्टि से शास्त्र का इन साधनों की न्यूनता तथा अन्य दोषों का उद्घाटन कर इन से उपेक्षा उत्पन्न करना उपयुक्त ही है। परन्तु अनधिकारी इन वचनों के वास्तविक तात्पर्य को ग्रहण न करके निज अधिकारोचित भोग-दोष-चिन्तन,

ईश्वर-प्रणिधान आदि छोड़ देता है, जिस के कारण वह उभय-भ्रष्ट हो जाता है।

विषय-वासना की दासता के दोष दीखना आरम्भ हो जाने पर ही मनुष्य वासना से मुक्त नहीं हो पाता। प्राचीन संस्कार बलवान होते हैं, वे बार बार उदय होकर, उसका भोग में दोष-दृष्टि को भी कलुषित (दुर्बल) कर देते हैं। यदि ऐसा कभी न हो, तो भी हठात् कुमार्ग में धकेल कर ले जाना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में शुद्ध ब्रह्मविषयक उपनिषदों का निरन्तर मनन होना असंभव होता है और न ही इस साधन से उसे वासना रूपी शत्रु के सम्मुख सफलता ही हो सकती है। मनुष्य ईश्वर की सहायता के बिना इस दुस्तर माया को पार नहीं कर सकता। ईश्वर-प्रणिधान रूपी भक्ति का सहारा उसके लिए अनिवार्य है।

आरम्भ में उसका मन उपयुक्त मात्रा में शुद्ध तथा सूक्ष्म नहीं होता। विक्षिप्त-चित्त होने से कर्म नितान्त छूट भी नहीं सकता। अतः उसको ईश्वर-प्रसाद प्राप्ति के लिए निष्काम कर्मयोग अथवा कर्म द्वारा ईश्वर-भजनरूप ईश्वर-प्रणिधान का अवलम्बन लेना पड़ता है। ओ३म् आदि जाप रूप ईश्वर-प्रणिधान भी करता है, परन्तु निष्काम कर्म योग हो उस के लिए मुख्य ईश्वर-प्रणिधान होता है। जब चित्त निर्मल तथा एकाग्र होने लगता है, तो ईश्वर-प्रणिधान शबल ओंकार के ध्यान का रूप धारण करता है और ध्यान में उसके साथ साथ यह भावना भी चालू रहती है कि ईश्वर सर्वज्ञ, नित्यमुक्त, क्लेश-कालिमा से रहित, सर्वशक्तिमान, दया, प्रेम तथा आनन्दस्वरूप और संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का कारण है। इस ध्यान तथा उपासना के परिपक्व होने पर शुद्ध, त्रिगुणातीत परमात्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का उपयुक्त स्थल है।

उपर्युक्त विचार के आधार पर ब्रह्मपूजा (ईश्वर-प्रणिधान) के तीन भेद हो जाते हैं:—

१. निष्काम कर्मयोग तथा सामान्य जाप रूप ईश्वर-प्रणिधान—इसका अधिकारी विक्षिप्तचित्त वाला है, जिस ने संसार-भोग के दोष को अनुभव करना आरम्भ कर दिया है, परन्तु अभी पूर्व भोग-वासना बलवती है। ईश्वर-प्रणिधान इन भोग-वासनाओं को निर्बल करने के लिए अत्यन्त उपयोगी साधन है। ईश्वर-प्रसाद से इनको जीतना बहुत सरल हो जाता है, अन्यथा अन्य साधनों के आधार पर वासनाओं को जीतना असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन है। उपर्युक्त ईश्वर-प्रणिधान वशीकार वैराग्य का साधन है।

२. सगुण ब्रह्म अथवा विराट् स्वरूप ईश्वर का ओंकार द्वारा ध्यान अथवा उपासना रूप ईश्वर-प्रणिधान—इस द्वारा स्थूल सूक्ष्म सम्पूर्ण जगत् के भोग से उपराम हो जाता है। इस ध्यान-साधना के द्वारा परवैराग्य की सिद्धि होती है, अन्यथा असम्भव है।

३. निर्गुण ब्रह्मोपासना—श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि द्वारा—इस कक्षा में उपर्युक्त दो साधनों का कुछ उपयोग नहीं रहता। इसी लिए ऐसे जिज्ञासुओं की दृष्टि से इन दो साधनों का शास्त्र में निषेध पाया जाता है। उपनिषद् विशेषतया इसी कक्षा के लिए उपयुक्त हैं। ऐसी कक्षा के लिए इनका श्रवण आदि विशेष रूप से फलदायक होता है। अन्य साधक इन का कुछ श्रवण आदि करें, तो भी केवल इनके द्वारा वे लक्ष्य-सिद्धि कदापि नहीं कर सकते। उनको अपनी स्थिति के अनुसार पूर्वोक्त साधनों को करना ही पड़ता है तथा उनके लिए ऐसे ग्रंथों का अध्ययन अधिक लाभकर है, जिन में निष्काम कर्म, वैराग्य, सगुण अथवा

विराट्-पुरुषोपासना का निरूपण हो। प्रथम कक्षा की भक्ति वैराग्य की सिद्धि का साधन है और तृतीय कक्षा की भक्ति का उपर्युक्त वैराग्य साधन है। यह सम्पूर्ण विवेचन साधक की दृष्टि से किया गया है, सिद्ध के लिए नहीं।

६. *वैराग्य के सामर्थ्य का विचार*

वैराग्य साधन मात्र है लक्ष्य नहीं

कौन ऐसा प्राणी है, जिसकी सुख और उसके साधन में प्रीति या राग, दुःख और उसके साधन से द्वेष या घृणा न हो, यह अनिवार्य है। सुख की आशा से किये गये प्रयत्न अनेक वार विफल हो जाते हैं। इष्ट पदार्थ प्राप्त नहीं होता और प्राप्त होने पर भी शीघ्र या विलम्ब से इसका वियोग होना अनिवार्य है। इसी प्रकार उस वियोग से पैदा होने वाला दुःख भी आवश्यक है। भोग से लालसा—तृष्णा—प्रतिदिन बढ़ती है, शान्त नहीं होती।

कौन ऐसा वज्रहृदय मनुष्य है, जिसने मादक द्रव्य के सेवन में आसक्त मनुष्यों को, उन के सेवन से प्रतिक्षण बढ़ती हुई तृष्णा के कारण अपने सर्वस्व, धन, जन, वैभव, सम्पत्ति और मान आदि को आहुति करते न देखा हो और उस के मन में परिणामतः मद्यपों के प्रति करुणा तथा विषय-भोग के कटु विषमय दुष्परिणाम से भीति तथा ग्लानि न उत्पन्न हुई हो। कितने ही युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर काम-भोग की ज्वाला में अपने जीवन की आहुति दे देते हैं और अपनी प्राण-प्रिय पत्नी तथा संबंधियों को शोक की भट्टी में झोंक देते हैं। कई युवकों के देश, जाति तथा मनुष्य-समाज की सेवा के प्रशंसनीय विचार भोग-लालसा के कारण धूलि में मिल जाते हैं। कोई नित्य सुख है या नहीं है ? उसका वास्तविक स्वरूप तथा

प्राप्ति का साधन क्या है ? सुख-दुःख का भोक्ता जीव नित्य है या अनित्य ? आदि सिद्धान्तों के सम्बंध में, जिनमें अनेक मत भेद हैं, कोई मनुष्य निर्णय न कर सके, तो इसमें आश्चर्य नहीं। परन्तु ऐसा मनुष्य मिलना कठिन है, जिसने सुख-भोग के द्वारा लालसा-वृद्धि के कारण अपने सामान्य स्वार्थ तथा परम उदार आदर्शों की पूर्ति में बाधा न अनुभव की हो। अर्थात् भोग-तृष्णा के दुष्परिणाम से मनुष्यमात्र परिचित है। अतः यह स्वाभाविक है कि अपनी मनोभावना की पूर्ति तथा जीवन की रक्षा के लिए इस तृष्णा को विजय करने का यत्न करे। कई लोग इस प्रकार के होते हैं, जो इस तृष्णा की अदम्य ज्वाला से खिन्न होकर इसके निर्मूल करने को ही अपना स्वतंत्र लक्ष्य या परमोद्देश्य बना लेते हैं। इस विचार की श्रेणी के लोग तृष्णा को ही जन्म, मृत्यु तथा उसके पश्चात् होने वाले सम्पूर्ण दुःखों का कारण मानते हैं और तृष्णा की निवृत्ति को ही ऐहिक सुख का एक मात्र कारण मानते हैं, जिस के वैराग्य, वितृष्णा, अनासक्ति आदि कई नाम रखे जाते हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि विरले ही ऐसे मनुष्य होते हैं, जो वितृष्णा के इस स्वरूप को समझते हैं और उसके विजय के लिए अपने प्राणों तक को अर्पण करने के लिए उद्यत होते हैं। जिन्होंने इस वितृष्णा के सुख को यत्किञ्चित् भी अनुभव किया है, वे लोग निम्नलिखित प्रकार के शब्दों में इस रस का वर्णन करते हैं:—

इन्द्रोऽपि न सुखी तादृग् यादृग् भिक्षुर्हि निस्पृहः।
कोऽन्यः स्यात् इह संसारे त्रिलोकिविभवे सति ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम् ॥

"जितना निःस्पृह (तृष्णा-हीन) भिक्षु सुखी है, उतना इन्द्र भी नहीं, इस संसार में त्रिलोकी के ऐश्वर्य के होने पर भी तृष्णा-युक्त किसी अन्य के सुखी होने की तो बात ही क्या। जो संसार में कामना से उत्पन्न होने वाला सुख है, और जो बड़ा भारी दिव्य सुख है, वे सब सुख तृष्णा-क्षय के सुख की सोलहवीं कला के भी योग्य नहीं हैं।"

इस से मिलते जुलते भगवान् बुद्ध के अनेक वचन मिलते हैं। उपर्युक्त दृष्टि वाले सज्जन तृष्णा तथा तृष्णा के दुष्परिणाम के अज्ञान को ही दुःख की परम्परा का कारण मानते हैं। और उसके ज्ञान द्वारा दुष्परिणाम के अज्ञान की निवृत्ति तथा तृष्णा-निवृत्ति रूपी वैराग्य—वितृष्णा—अनासक्ति—को ही मनुष्य के जीवन का परमोद्देश्य मानते हैं तथा अनासक्त को ही आदर्श पुरुष मानते हैं। इसके अतिरिक्त कोई उपाय या लक्ष्य स्वीकार नहीं करते। इस विषय से मिलते जुलते वैदिक उपनिषद्-वचन भी मिलते हैं*। योगवासिष्ठ, महाभारत तथा मनुस्मृति में भी इस प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं।

---

* कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

मु० ३,२,२

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ ६,१४

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्॥ बृहदारण्यक ४,४,४

७. *स्वतंत्र विचार-प्रधान तथा वेदोक्त वितृष्णा, वैराग्य, कामत्याग में भेद*

संसार-चक्र का मूल कारण आत्मा का अज्ञान है।

स्वतन्त्र विचार-प्रधान मनुष्यों के वितृष्णा, वैराग्य, काम-त्याग, अनासक्ति का स्वरूप, तथा दुःखमय संसार के उच्छेद करने के साधनों, और वेदोक्त वितृष्णा, वराग्य, कामत्याग, अनासक्ति का स्वरूप, तथा संसार-चक्र के उच्छेद करने के साधनों में इनके स्थान तथा महत्त्व में भेद है। वैदिक संस्कार से शून्य मनुष्य इस परिणामशील, स्थूल अथवा सूक्ष्म देह के अतिरिक्त अन्य किसी नित्य तत्त्व को नहीं मानते, अथवा मानते भी हैं, तो उसके ज्ञान को परमलक्ष्य या साधनरूप में नहीं मानते, या स्वरूप स्थिति को परमलक्ष्य मानते हुए भी कामना-निवृत्ति मात्र से ही उसकी प्राप्ति मानते हैं और किसी उपाय की आवश्यकता उस के लिए स्वीकार नहीं करते। इन सब उपर्युक्त भिन्न २ विचारों वाले ये लोग इस एक विषय में सहमत हैं कि नित्य तथा अनित्य आदि दोषों के विचार से तृष्णा का मूल-सहित नितान्त नाश हो सकता है। और क्योंकि यह तृष्णा ही संसार-चक्र का एकमात्र कारण है, अतः इसके नाश से संसार-भय की सर्वथा निवृत्ति तथा परमपद की प्राप्ति हो जाती है, अथवा तृष्णा-निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति में कुछ अन्तर नहीं है। परन्तु श्रुति वैराग्य (अनासक्ति आदि) की आवश्यकता मानते हुए भी इसको ही स्वतन्त्र रूप से संसार-भय की निवृत्ति में साधन नहीं मानती। और प्रेय-प्रलोभन, प्रेयमार्ग में योग-क्षेम रूपी दोष, नाश-भय तथा भोग द्वारा तृष्णारूपी ज्वाला की वृद्धि को स्वीकार करती है। तथा संसार-चक्र और भय के कारणों में तृष्णा को उचित स्थान देती है। परन्तु वह इसे

संसार-भय का परम कारण नहीं मानती। राग तथा तृष्णा का कारण विषय में सुख-प्रतीति है, परन्तु यह सुख की प्रतीति भी प्राणिमात्र तथा मनुष्यमात्र में प्रत्येक पदार्थ के विषय में समान नहीं होती। एक जाति, एक आयु, एक माता-पिता तथा अन्य बाह्य परिस्थितियों के समान होने पर भी इस संबन्ध में व्यक्तियों में भेद पाया जाता है। इसका कारण केवल योगाभ्यास की भिन्नता नहीं हो सकती।

भिन्न २ मनुष्यों के प्रेय-पदार्थों का वर्गीकरण किया जा सकता है। जैसे—कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनको रूप रस आदि विषय-भोगों में रुचि (प्रेम—आसक्ति) होती है। इनके प्रिय पदार्थों, भिन्न २ इन्द्रियों के विषयों अथवा एक ही इन्द्रिय के भिन्न २ रूपों या रसों में भेद हो सकता है, परन्तु इन सब में एक समानता है कि इनके प्रिय पदार्थ इन्द्रियों के विषय होते हैं। दूसरा वर्ग उन मनुष्यों का हो सकता है, जिन्हें भिन्न २ प्रकार के कर्मों, खेल-कूद, पर्यटन, तथा कला-कौशल के सञ्चालन, आदि में अधिक रुचि होती है। इन में उनकी दक्षता भी स्वाभाविक होती है। यहां भी कार्यों या प्रवृत्तियों के क्षेत्रों में भिन्नता होने पर भी एक प्रकार की समानता होती है, जिस से वे सब एक वर्ग में आ जाते हैं। तीसरे प्रकार के वे लोग हैं, जिन्हें संसार की पहेलियों को सुलझाने, नियमों को जानने आदि में विशेष रुचि होती है, ये ज्ञान-प्रिय खोजी एक स्वतंत्र वर्ग में रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार चौथी श्रेणी के वे लोग होते हैं, जिनमें प्रभुत्व का भाव अथवा शासन करने की रुचि तीव्र होती है। इन के लिए वे धन, विषय-सुख, शारीरिक आराम, सगे सम्बंधियों तथा प्राणों तक को भी प्रसन्नता पूर्वक न्योछावर कर देते हैं। कुछ पांचवीं प्रकार के ऐसे भी मनुष्य दीखते हैं, जो दूसरों को धोखा देकर प्रसन्न होते हैं, दूसरों की वञ्चना

करने में उन्हें विशेष आनन्द आता है, इसी को वे अपना आदर्श मानते हैं और इसका वर्णन गर्व से करते हैं। इस वर्गीकरण से यह ज्ञात होता है कि यह रुचि-भेद किसी सामान्य अभ्यास के कारण नहीं, प्रत्युत मन की कुछ विशेष गठन ही ऐसी है, जिस के कारण व्यक्तियों को विशेष २ वर्गों के पदार्थ ही प्रिय होते हैं। एक मनुष्य के लिए अपने वर्ग के पदार्थों (विषयों) का परिवर्तन कर देना ही संभव होता है, वर्गमात्र का परिवर्तन करना उसके लिए प्रायः असंभव होता है। उदाहरण के लिए जिन लोगों को इन्द्रियों के विषय प्रिय हैं, उनके लिए एक इन्द्रिय के प्रिय पदार्थ को छोड़ कर दूसरी इन्द्रिय के पदार्थों का ग्रहण कर लेना सरल होता है, परन्तु ज्ञान-प्रिय बनना उन के लिए असंभव है। कहने का अभिप्राय यह है कि विशेष पदार्थों में अनुभव होने वाले सुख, राग तथा तृष्णा का कारण अभ्यास नहीं है, प्रत्युत इसका कारण भिन्न २ व्यक्तियों के मनों की बनावट स्थिति या विशेष गुण हैं, जिन्हें शास्त्र की परिभाषा में सत्व, रज तथा तम कहा जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि इस सुख-दुःख, राग-द्वेष, तृष्णा, आसक्ति-अनासक्ति आदि भावों को मापने वाली, इनको स्वीकार और अस्वीकार करने वाली, इन भावों के गमनागमन को प्रकाश करने वाली कोई सत्ता है, जो इन भावों से भिन्न है। उपर्युक्त व्यवहार ही उसके इन भावों से पृथक् होने के हेतु हैं। यह सत्ता किसी भाव के विद्यमान होते हुए तद्रूप सी भासती है, तद्भावरूप होने के कारण वैसा व्यवहार करने को उद्यत सी प्रतीत होती है। इस सत्ता की विद्यमानता और अभेद-भाव के बिना किसी मानसिक भाव में कार्य-क्षमता नहीं होती। यह अभेद-ग्रन्थि ही इस प्रवाह का मुख्य, मूल तथा अनादि कारण है।

विषयों में राग-द्वेष स्वाभाविक नहीं है। चित्त की तम आदि भिन्न २ गुणों की प्रधानता की अवस्था में भिन्न २ पदार्थ तथा भाव स्वाभाविकरूप से प्रिय भासते हैं। उदाहरणार्थ—तमोगुण की प्रधानता में क्रूरता निद्रा आदि कार्य, रजोगुण की प्रधानता में खेल-तमाशे तथा विषय-भोग और सत्व-गुण की प्रधानता की अवस्था में ज्ञान-विज्ञान में रुचि होती है। जब प्रधान गुण परिवर्तित हो जाता है, तो पूर्वकालीन प्रिय पदार्थों में स्वतः अरुचि हो जाती है। मन में प्रलोभन उपस्थित होने पर उसके वश में न आना, राग-मोह के वश उस विषय का सेवन न करना ही वैराग्य तथा अनासक्ति नहीं है, यह तो सामान्य संयम है। परन्तु गुण के परिवर्तित हो जाने पर किसी पदार्थ में सुख के उपभोग की लालसा का ही उदय न होना उस विषय में सामान्यतया वास्तविक वैराग्य (अनासक्ति) है। उपर्युक्त विचार से यह निश्चय होता है कि जाति (योनि) तथा चित्त के प्रधान गुण आदि के भेद के कारण राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। इनके गुण और दोष आदि को विचारना, प्रकाश करना तथा तदनुसार ग्रहण अथवा त्याग करना, आसक्ति-अनासक्ति को तोलना आदि कार्य कोई अन्य शक्ति करती है, जो किसी प्रबल वेग की दशा में वेग तथा अपनी सत्ता में भेद नहीं करती। अतः उस वेग के अधीन व्यवहार होता है। वह शक्ति सुख-दुःख मानती अथवा उस उस प्रकार का व्यवहार करती हुई प्रतीत होती है, परन्तु वेग के निर्बल होने पर भेद को कुछ कुछ अनुभव करती है। जब इस प्रकार क्रमशः तीनों गुणों का बल क्षीण हो जाता है, और चित्त-धारा निर्मल, एकरस, और शान्त रूप से बहने लगती है, तब, यदि वह शक्ति अत्यन्त शास्त्र-श्रद्धा-हीन तथा संस्कार-रहित नहीं है, तो अपनी त्रिकालाबाध्य स्वतन्त्र सत्ता को अनुभव करती है। अतः यह ज्ञात होता है कि इस दुःखपरम्परा रूपी संसार-चक्र का

मूलकारण विषय के सुख से उत्पन्न होने वाले राग की प्रबल अवस्था-तृष्णा-मात्र नहीं है। सुख दुःख आदि के अनुभव करने वाला अथवा प्रकाश करने वाला भोक्ता आत्मा इन सब सुख-दुःख, तृष्णा आदि के भावों से पृथक् है, परन्तु भ्रान्ति तथा भेद के अज्ञान के कारण भेद होते हुए भी इन भावों से तद्रूप हुआ और सुख-दुःखादि का भोक्ता प्रतीत होता है। इस निष्कर्ष से यह सिद्ध होता है कि अवैदिक विचार वाले जहाँ तृष्णा को ही संसार-चक्र का मूल कारण मानते हैं, वहां श्रुति तृष्णा तथा आसक्ति को ही संसार-भय का मूल कारण स्वीकार नहीं करती।

श्रुति, परमलक्ष्य की सिद्धि में वैराग्य तथा तृष्णा के अभाव को उचित महत्त्व देते हुए, कहीं २ तृष्णा-रहित स्थिति को अमृतपद का विशेषण देते हुए भी, यह स्वीकार नहीं करती कि तृष्णा के क्षयमात्र से परम पद प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह इसी को संसार का मूल कारण स्वीकार नहीं करती। जैसा कि स्वतन्त्र विचार के लोग तृष्णा-रहित स्थिति, तथा कामना के अभाव को ही परम पद स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में कामना ही संसार-चक्र का मूल कारण है। श्रुति का तो यह अभिप्राय है कि इस आसक्ति, सुख-दुःख की अनुभूति तथा राग-द्वेष का भी मूल कारण आत्म-अनात्म का अविवेक है, जिसका स्वरूप अपने आप को स्थूल देह, बुद्धि तथा चित्त रूप मानना है। देह और आत्मा का अभेद-रूपी मिथ्या-ज्ञान का अभ्यास ही संसार-चक्र का अनादि कारण है। चित्त-जड़-ग्रन्थि तथा हृदय-ग्रन्थि इसी का नाम है। उपर्युक्त सामान्य राग-द्वेष तथा तृष्णा इस मूल अज्ञान का अंकुर है, जो आगे चलकर प्रवृत्ति द्वारा जन्म मरण आदि अनन्त दुःख-परम्परा का कारण बनता है, जैसा कि न्याय दर्शन (१,१,२) में कहा है कि (१) आत्मा का स्वरूप-विषयक अज्ञान संसार-चक्र का मूल कारण है। (२) कुत्ता बिल्ली,

मनुष्यादि शरीरों में आत्म-भ्रान्ति होने से उस योनि सम्बंधी राग-द्वेष, मोहरूपी दोष स्वभावतया उत्पन्न होते हैं। (३) इन रागादि दोषों के कारण प्रवृत्ति अर्थात् (इष्ट-अनिष्ट-मोह वश) शुभाशुभ कर्म होते हैं। तथा (४) प्रवृत्ति का फल जन्म होता है और (५) जन्म—शरीर धारण—से दुःख होता है। यह चक्र अनादि काल से निरवच्छिन्न रूप से चला आता है। अवैदिक सम्प्रदायोक्त सामान्य तृष्णा की निवृत्ति अर्थात् स्वतन्त्र कामना की निर्मूलता से इस चक्र से निवृत्ति रूपी अपवर्ग नहीं हो सकता, प्रत्युत वह अपवर्ग आत्मा के ज्ञान द्वारा उस तृष्णा का मूल कारण आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति से क्रमशः होता है। यह क्रम इस प्रकार है:—ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति, अज्ञान की निवृत्ति से दोष की निवृत्ति, दोष की निवृत्ति से प्रवृत्ति की निवृत्ति और प्रवृत्ति की निवृत्ति से जन्म—शरीर—की निवृत्ति। इस प्रकार शरीर से स्पर्श न होने पर दुःख का स्पर्श नहीं होता। आत्म-ज्ञान के अभाव में नित्य-अनित्य आदि दोषों के विचार अथवा अन्य साधनों के बल से जो अनासक्ति सी भासती है, वह वास्तविक अनासक्ति नहीं है, वह तो आसक्ति की ही सूक्ष्म अवस्था है। बेशक, सामान्य सांसारिक मनुष्यों की तृष्णा-संयुक्त अवस्था की अपेक्षा यह अवस्था अत्यन्त निर्मल तथा शान्त प्रतीत होती है, परन्तु यह दशा परम अनासक्ति की नहीं है। इसमें अभी आसक्ति विद्यमान है और वह निर्बीज नहीं हुई है। क्योंकि इसका मूल बीज आत्म-अज्ञान अभी दग्ध नहीं हुआ। अतः यह वैराग्य की पराकाष्ठा नहीं। इस अवस्था का समय पाकर ह्रास होता है। प्रमाद-वश उस में फिर अंकुर उत्पन्न होकर संपूर्ण संसार-चक्र पूर्ववत् चल सकता है।

इसी प्रकार योगदर्शन (१,१२) में चित्त की वृत्ति के निरोध के लिए अभ्यास तथा वैराग्य दो उपाय बताये गये हैं। व्यास

भगवान् ने इस सूत्र के अपने भाष्य में इन दोनों का भिन्न २ प्रयोजन बताया है। जिसका यह अभिप्राय है कि दो में से किसी एक को छोड़ा नहीं जा सकता। दोनों का समुच्चय रूप से अनुष्ठान आवश्यक है। पहले वैराग्य की अनिवार्य आवश्यकता का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि वैराग्य के विना किया गया विचार आदि प्रधान, आत्म-विवेक-अभ्यास कैवल्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। फिर यह भी वताया है कि केवल वशीकार वैराग्य द्वारा भी चित्त-वृत्ति-निरोध तथा स्वरूप-स्थिति (देहरूपी संसार दुःख से वियोग) नहीं हो सकती। क्योंकि सूत्र समुच्चय रूप से दोनों साधनों का निर्देश करता है। व्यास भगवान् की व्याख्या परम रहस्य पूर्ण है। आत्म-अज्ञान की निवृत्ति का मुख्य अन्तरतम साधन तो आत्म-विवेक-अभ्यास ही है। परन्तु वैराग्य के दृढ हुए विना केवल विवेकाभ्यास, अभ्यास का आभास मात्र वृथा श्रम है। इस से फलसिद्धि नहीं हो सकती। अतः आत्म-विचार आदि का अनुष्ठान वैराग्य सम्पत्ति आदि के सहित ही करना चाहिए। समुच्चय का भी यही अभिप्राय है कि केवल वैराग्य न तो परम लक्ष्य ही है और न परम साधन ही। जो व्यक्ति वैराग्य मात्र को परम लक्ष्य या साधन मान कर इसको सबीज (आत्म-अज्ञानके सहित) अन्तिम अवस्था मान बैठता है, वह अपनी इस भ्रान्ति, प्रमाद, अधीरता तथा नास्तिकता के कारण परम लक्ष्य, संसार-भय की निवृत्ति, परमशान्ति तथा परमानन्द से वञ्चित रह जाता है। शान्ति तथा आनन्द की अवस्थाओं में अनन्त तारतम्य है। अवधि वाले आनन्द तथा शान्ति में ही परमानन्द की भ्रान्ति हो रही है। यह भ्रान्ति शास्त्र तथा महा-पुरुषों में परम आस्तिकता तथा अनेक जन्मों के पुण्य प्रभाव से लब्ध श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निर्देश में परम श्रद्धा से निवृत्त हो सकती है। शब्द तो सामान्य निर्देश कर सकता है। अनुभवी

महापुरुष अपनी अनुभूत परम शान्ति के आधार पर जिज्ञासु की स्थिति की न्यूनता विषयक निर्देश कर सकता है। दुराग्रहवश इस को ठुकरा देना अमृत पद को खो बैठना है। अतः शास्त्र तथा महापुरुषों के वचनों को अत्यन्त श्रद्धायुक्त होकर समझने की चेष्टा करनी चाहिए और उनके निर्दिष्ट पथ पर चलना चाहिए।

८. *कामना के अभाव को ही निःश्रेयस का मुख्य साधन कहने का वास्तविक तात्पर्य*

उपनिषद् आदि शास्त्रों के जिन स्थलों में कामना से संसार तथा कामना के अभाव से परम श्रेय की उपलब्धि का वर्णन आया है, उन स्थलों में आत्म-ज्ञान से रहित अकाम-भाव से स्वतन्त्र, साक्षात् अमृत पद की प्राप्ति का उल्लेख नहीं है। इसलिए इन वाक्यों का वास्तविक तात्पर्य ग्रहण न करके केवल वैराग्य तथा उसके साधन मात्र का आश्रय लेकर आत्माभ्यास तथा आत्म-साक्षात्कार की ओर से प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि श्रुति का स्पष्ट तात्पर्य आत्म-ज्ञान का फल निःश्रेयस है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अतः उन वैराग्य प्रशंसक वाक्यों का अभिप्राय इस प्रकार है:—

(१) वैराग्य के प्रभाव को साधक के चित्त पर दृढ करने के लिए वे वाक्य अर्थवाद रूप हैं।

(२) अथवा आत्म-ज्ञान सहित वैराग्य का (वैराग्य सहित आत्म-ज्ञान का) फल निःश्रेयस सूचित किया गया है। वैराग्य रहित आत्म-ज्ञान वास्तविक नहीं है, अतः अविश्वसनीय है। क्योंकि राग अबोध का चिह्न है। सामान्य वैराग्य आत्म-ज्ञान के विना भी संभव हो सकता है। परन्तु आत्म-ज्ञान वैराग्य के विना अतीव असंभव है। अतः जब तक साधक के मन में विषयादि की वासना के वेग का प्रवाह चलता है, तब तक आत्म-

ज्ञान को दृढ तथा फलोत्पादन में सामर्थ्यवान् नहीं समझना चाहिए। इसलिए वैराग्य के साधनों में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

(३) अथवा कमना के अभाव से उस निर्बीज कामना का अभाव अभिप्रेत है, जो आत्म-ज्ञान के पश्चात् ही होता है। जब आत्म-ज्ञान होने पर वैराग्य की पराकाष्ठा हो जाती है, तब दग्ध बीज हो जाने से तृष्णा में अंकुर फूटने की सम्भावना नहीं रहती। इसी कारण से योगदर्शन में वैराग्य के दो भेद किये गये हैं।

योगसूत्रकार १,१५ सूत्र में वशीकार संज्ञा नामक अपर वैराग्य के निरूपण के अनन्तर १,१६ सूत्र में पर वैराग्य का इस प्रकार निरूपण करते हैं:—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

भगवान् व्यास के भाष्य का अर्थ:—दृष्ट (लौकिक) तथा अनुश्रविक (पार-लौकिक-जिनका बोध शास्त्र श्रवण से होता है) विषयों के दोषों (अनित्यत्व आदि) के साक्षात्कार से (अपर) वैराग्ययुक्त पुरुष, जिसकी बुद्धि प्रकृति तथा पुरुष के विवेकरूप दर्शन के निरन्तर अभ्यास द्वारा शुद्ध (रजोगुण और तमोगुण के क्षीण हो जाने से एक सत्त्व-प्रधान-प्रवाह-युक्त) हो गई हो तथा जो गुणों और पुरुष के उज्ज्वल विवेक से (पुरुष शुद्ध तथा अनन्त है और गुण इस से विपरीत हैं) पूर्ण हो चुकी है, अर्थात् समाधि-सम्पन्न योगी व्यक्त अव्यक्त धर्मों से युक्त गुणों से (गुणात्मक विवेक ख्याति से भी) विरक्त हो जाता है। अर्थात् पर (सर्वोत्तम) वैराग्य को प्राप्त करता है। यही दो प्रकार का वैराग्य है, (१) प्रथम वशीकार वैराग्य (२) द्वितीय परवैराग्य ज्ञान-प्रसाद मात्र है। यह वैराग्य निर्विषयक (आत्मा)

ज्ञानालोक मात्र है। क्योंकि जिस ज्ञान के उदय होने के कारण पुरुष-ज्ञान से युक्त योगी ऐसा मानता है कि प्राप्त करने योग्य (मनुष्यजन्म का ध्येय—मोक्ष—) को प्राप्त कर लिया। नाश करने योग्य (वासना सहित अविद्या आदि) क्लेश नाश हो गये। जन्म मरण प्रवाहरूप संसार के कारण संश्लिष्ट (घने) कर्म (धर्म अधर्म) छिन्न भिन्न हो गये हैं, जिनके छिन्न-भिन्न न होने से मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मर कर पुनः जन्म लेता है, क्योंकि यह (पर पुरुष) ज्ञान की पराकाष्ठा ही है। ऐसे (ज्ञान स्वरूप) वैराग्य से भिन्न कैवल्य नहीं है। अर्थात् ऐसा ज्ञान अथवा वैराग्य ही कैवल्य (मोक्ष) है।

परवैराग्य पुरुष (आत्मा) के ज्ञान का फल है, जो सम्पूर्ण गुणों के राग को भस्मसात् कर देता है। आत्म-ज्ञान के अनन्तर निर्बीज वैराग्य की पराकाष्ठा का ही यह नाम है। अथवा आत्म-ज्ञान की दृढावस्था का नाम ही परवैराग्य है । परवैराग्य ज्ञान का प्रसाद, ज्ञानालोक अथवा वह स्थिति है, जो आत्म-दृष्टि से ज्ञात है तथा संसार-गुण-मात्र की दृष्टि से परवैराग्य है। अतः जहां कठोपनिषद् आदि ग्रन्थों में कामत्याग, कामाभाव, वैराग्य, अनासक्ति तथा संकल्प-त्यागमात्र आदि का अमृतपद, परमसाधन अथवा परमपद के रूप में वर्णन किया है, उन सब स्थलों पर उपर्युक्त विवेचन के अनुसार संगति लगानी चाहिए।

आत्म-ज्ञान ही संसार मार्ग की निवृत्ति का एक मात्र उपाय है। इस सिद्धान्त का समर्थन निम्नलिखित श्रुति वाक्यों में पाया जाता है:—

तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

मुण्डक ३,२,८

"ऐसे ही विद्वान् अविद्याकृत नाम-रूप-संसार से मुक्त होकर, अव्यक्त प्रकृति से भी परे परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है"।

तरति शोकमात्मवित् । छान्दोग्य ७,१,३

आत्म-ज्ञानी शोक मोह से पार हो जाता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

श्वेताश्वतर ३,८

परमात्मा को जान कर मृत्युरूप संसार का उल्लंघन कर जाता है। मोक्ष का दूसरा (इस से भिन्न) और कोई मार्ग नहीं ।

निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते । कठ ३,१५

उस परमात्मा का निश्चित, असंदिग्ध साक्षात्कार प्राप्त कर जिज्ञासु मृत्यु के मुख से बच जाता है। पुनः इस जन्म मरण रूप संसार-चक्र में नहीं आता ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। ईश ७

जिस अवस्था अथवा काल में विद्वान् के लिए सम्पूर्ण प्राणी (भूत) आत्मरूप हो जाते हैं, तब ऐसे एकत्वदर्शी के लिए कौन सा शोक और मोह रह जाता है, अर्थात् कुछ शोक मोह नहीं रहता ।

उपर्युक्त मुण्डक तथा बृहदारण्यक उपनिषद् वाक्यों में जहां काम-विजय या कामाभाव शब्द आये हैं वहां साथ ही आत्मा का भी वर्णन है ।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।

कृतात्मनः—जिसने आत्मा के ज्ञान द्वारा अविद्याकृत आध्यासिक देहतादात्म्यापन्न (देह युक्त चेतन ही आत्मा है) स्वरूप से शुद्धात्म स्वरूप को पृथक् कर लिया है, या ऐसा

निश्चय कर लिया है, अथवा जिसने परमानन्द स्वरूप परमात्मा का अनुभव कर के सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लिया है, या उस परमात्मा की कामना वाला हो गया है, उसकी यहां ही— इस शरीर में ही—अर्थात् यहां आत्मज्ञान से ही कामनाओं की सर्वोत्तम निवृत्ति होने का कथन है। ऐसे ही—विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डक ३,२,८ अथाकाम-यमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः बृ ४,४,६ अर्थात् अब कामना रहित गति का निरूपण होता है—जो कामना रहित है, जिन की सारी कामनाएं निवृत्त हो गयी हैं, अथवा जो केवल आत्मा की कामना वाला है, उसके प्राण देह से नहीं निकलते, वहीं लीन हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अकाम का भाव यहां पर आत्मकाम से है। कामना के अभाव अथवा आत्म-ज्ञान में कुछ भेद नहीं। जो फल वर्णन किया गया है, वह आत्मज्ञान का ही फल है। आत्म-ज्ञान से उसकी सम्पूर्ण अनात्म-कामनाओं का अभाव हो गया है। अतः वह किस प्रयोजन से शरीर से निर्गमन करे।

९. *प्रकरण निष्कर्ष*

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि सामान्य बीज सहित कामाभाव, वैराग्य, वितृष्णा, अनासक्ति तथा संकल्प के त्यागमात्र से संसार-भय की निवृत्ति नहीं होती। आत्म-ज्ञान (स्वरूप स्थिति) के विना वासना का मूल (आत्मा का अज्ञान) निवृत्त नहीं होता और निवृत्ति के विना वासना के चक्र के पुनः पूर्ववत् चल पड़ने की संभावना है। जन्म-मरण रूपी चक्र के उच्छेद के लिए, एकमात्र उपाय आत्म-ज्ञान है, अन्य कोई विकल्प इस सम्बंध में श्रुति को स्वीकृत नहीं है। अतः जो लोग आत्म-ज्ञान के विना किसी अन्य स्थिति अनासक्ति वैराग्यादि को परम पद

मानते हैं, या वैराग्यमात्र से ही परम लक्ष्य की सिद्धि मान कर कृतकृत्यता मान बैठते हैं, वे लोग उपर्युक्त विचार से सम्मत श्रुति के सिद्धान्त के अनुसार भ्रान्ति में हैं। उन्हें दुराग्रह छोड़ कर श्रुति में परम आस्था का अवलम्बन करके आत्म-ज्ञान के उपाय—श्रवण, मनन आदि—में प्रवृत्त होना चाहिए।

कई लोग इस प्रकार से विचार करते हैं कि स्थितियां दो ही हो सकती हैं। (१) संसार की अनात्म-स्थिति, और (२) आत्म-स्थिति। इसलिए जब केवल वैराग्य के द्वारा संसार की सब अनात्म वस्तुएं छूट जाएंगी तो आत्मस्थिति अनिवार्य होगी। वह स्वतः प्राप्त हो जाएगी। सामान्यतः स्थूलदृष्टि से तो यह ठीक ही है। परन्तु जैसे ऊपर कहा गया है कि वैराग्य में भी अनन्त तारतम्य है। संसार अनन्त है, और सूक्ष्म से सूक्ष्म है। श्रुति में परम श्रद्धा के विना आत्म-अनात्म-निर्णय सहज नहीं है। मनुष्य को किसी ऐसी अनात्म-स्थिति में जो अति रम्य तथा सूक्ष्म है, उसमें आत्म-स्थिति की भ्रान्ति हो सकती है। अतः इस प्रमाद को त्याग देना ही श्रेयस्कर है। वैराग्य को अधिक महत्त्व देकर आत्म-विषयक प्रमाद से जहां भय है, वहां वैराग्य को कम महत्त्व देना, उसकी ओर से उपेक्षा या प्रमाद करना भी उतना ही भयदायक है। उपर्युक्त साधनों के द्वारा वैराग्य-सम्पत्ति के सम्पादन के अनन्तर ही शुद्ध ब्रह्मविचार-प्रधान ग्रन्थों के अध्ययन से उपयुक्त फल प्राप्त हो सकता है, अन्यथा पतन का भय है। अनधिकार चेष्टा से उभयभ्रष्ट होने की सम्भावना ही नहीं, किन्तु वह अनिवार्य है। अतः वैराग्य-सम्पादन विषय में उचित प्रयत्न करना चाहिए। अधिकारोचित साधन का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। प्रलोभन तथा कौतूहल के वश अधीर नहीं होना चाहिए। परन्तु केवल हठ या त्याग और केवल सामान्य नित्य तथा अनित्यादि दोष के विचार

के द्वारा वैराग्य का सम्पादन करना सहज नहीं है। क्योंकि हठ से दबाए जाने पर वासनाओं का वेग बढ़ता ही है। अतः अपनी स्थिति के अनुसार मनोवेग का किसी सद्रूप-साधन, सामान्य कर्म, लोकहित, सेवा, सत्शास्त्र-अध्ययन, सत्संग तथा प्रेमपूर्वक ईश्वर पूजा व भजन में सदुपयोग करना चाहिए। और इस प्रकार प्राचीन वासनाओं के वेग को शनैः २ क्षीण करना चाहिए। रजोरूप शक्ति का नीति-युक्त उपयोग इस भांति करना चाहिए, जिस से यह अध्यात्म-पथ में बाधा न होकर सेवक का काम दे। गीता में भी ऐसा कहा है:—

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ गीता २,५६

"विषय भोग को त्याग देने वाले मनुष्य के विषय निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् हट जाते हैं, परन्तु विषयों में रस बना रहता है। वह रस तो परमात्मा के दर्शन करने से ही नष्ट होता है।"



तृतीय परिच्छेद

योग-भक्ति-निदिध्यासन

१. योग के सम्बन्ध में प्रथम भ्रान्ति

मोक्ष तो ज्ञान से होता है इसलिए योग में किया परिश्रम निष्फल है।

अध्यात्म-पथ में सकाम तथा निष्काम कर्म का महत्त्व, अधिकारी तथा साधन की अवधि, परम हित की दृष्टि से सिद्ध-स्वाभाविक मुख्य व्यवहार तथा वैराग्य का ब्रह्मविद्या में उपयोग का सविस्तर विवेचन हो चुका है। योग--चित्तवृत्ति की एकाग्रता तथा निरोध—का भी समाधान प्रकरण में कुछ निरूपण हुआ है। इस के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें विचारणीय हैं।

२. योग के ब्रह्मविद्या में उपयोग-विषयक उपनिषदादि ग्रन्थों के वचन

द्वितीय खण्ड के सातवें अध्याय के समाधान प्रकरण में बृहदारण्यक उपनिषद् (४,४,२३) के आधार पर यह निरूपण किया गया है कि आत्मा की नित्य महिमा को जानने वाला विद्वान् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा का आत्मा में दर्शन करे अर्थात् समाहितचित्त—एकाग्रभूमि—के विना उपनिषद् विद्या के श्रवण में अधिकार नहीं होता।

आक्षेप—कई सज्जन योग को ब्रह्मविद्या में उचित महत्त्व नहीं देते और अपने इस पक्ष के समर्थन में कुछ श्रुतिवचनों को उपस्थित करते हैं। और वे ऐसा मानते हैं कि योग के विना

केवल शास्त्र-विचार के आधार पर भी आत्म-ज्ञान की उपलब्धि तथा कृतकृत्यता प्राप्त हो सकती है।

(क) वे लोग निम्नलिखित उपनिषद् वाक्यों के आधार पर ब्रह्म को मन, वाणी आदि का अविषय कह कर ब्रह्म-ज्ञान-विषयक योग आदि साधनों के सम्बन्धी परिश्रम को निष्फल सिद्ध करते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति
नो मनो न विद्मो न विजानीमो
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो
अविदितादधि ॥ केन १, ३.

"चक्षु, वाणी और मन की ब्रह्म तक पहुंच नहीं है। हमें ज्ञान नहीं है कि हम किस प्रकार उसका उपदेश करें। वह तो ज्ञान तथा अज्ञान से भी परे है"।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥
तैत्ति० २, ९.

"मन को साथ लिए हुए वाणी आदि इन्द्रियाँ जिस ब्रह्म को प्राप्त किए विना ही लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ मनुष्य कहीं से नहीं डरता।"

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-
मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं-
मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। माण्डूक्य० ७.

"उस अदृष्ट, इन्द्रिय से अग्राह्य, लक्षण-हीन, अचिन्त्य, शब्द से अकथनीय, एक ही आत्मा के ज्ञान से युक्त, प्रपञ्चहीन, शान्त, शिव और अद्वैत ब्रह्म को चतुर्थ पाद मानते हैं। वही आत्मा है और वही जानने योग्य है"।

(ख) अथवा वे लोग निम्नलिखित वचनों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि मोक्ष तो केवल ब्रह्म-ज्ञान से होता है और ब्रह्म-ज्ञान के लिए उपनिषद्—श्रुति—ही अपूर्व एकमात्र प्रमाण है अतः योगादि अन्य साधन व्यर्थ हैं।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

श्वे० उ० ६,१५.

"उस नित्य, एकरस, आनन्द चिद्घन परमात्मा के ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशील संसार-चक्र से मुक्त होकर अमृतपद को प्राप्त कर लेता है। इस अमर धाम के लिये परमात्म-ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग या उपाय नहीं है"।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। ईशोप० ७

"जब मनुष्य उस अद्वितीय परमात्मा के दर्शन कर लेता है, तब किसी प्रकार का भी शोक और मोह कैसे हो सकता है"?

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मुण्डकोप० २,२,८.

"उस परावर—कारण-कार्य-रूप अथवा शुद्ध-शबल स्वरूप—परमात्मा के साक्षात् दर्शन से इस जीव को आत्म-अनात्म-अविवेक रूपी हृदय की गांठ खुल जाती है। आत्मा, परमात्मा,

परलोक आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद हो जाता है और समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है"।

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरन्नेतरात् ।

सां० द० ३,८४.

"पुरुष और प्रकृति के विवेक-ज्ञान से सम्पूर्ण दुःखों के नाश हो जाने पर कृतकृत्य हो जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं है, अन्य कोई उपाय नहीं है"।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः । न्या० द० १,१,२.

"आत्म-ज्ञान द्वारा (१) मिथ्या ज्ञान, (२) दोष—रागद्वेष—(३) प्रवृत्ति—कर्म—(४) पुनर्जन्म, (५) दुःख के क्रमशः निवृत्त हो जाने से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है"।

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । बृ० उ० ३, ९, २६.

"मैं उस पुरुष के विषय में आप से पूछता हूं, जिस का उपनिषद् निर्देश करते हैं तथा जिस के ज्ञान का उपनिषत्-शिक्षा ही एक मात्र अपूर्व उपाय है"।

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते ।

"ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, जिस से संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है"।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । गीता ४,३३.

"हे अर्जुन ! ज्ञान के उदय होने पर सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् उनका नाश हो जाता है। अथवा सम्पूर्ण कर्मों का परमफल प्राप्त हो जाने के कारण उनका कुछ व्यक्तिगत उपयोग नहीं रहता"।

एतेन योगः प्रत्युक्तः । वेदा० द० २,१, ३.

"पूर्वसूत्रोक्त सांख्य के खण्डन से ही योग का खण्डन हो जाता है"।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥

विवेक चूडा० ५८

"न योग से, न सांख्य से, न कर्म से, न विद्या—उपासना—से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष तो केवल ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व ज्ञान से ही सिद्ध होता है। मोक्ष-सिद्धि का अन्य कोई साधन नहीं है"।

इन सब श्रुतियों और स्मृतियों का एक स्वर से यह कथन है कि ब्रह्म-ज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का साधन है। ज्ञान के विना मोक्ष नहीं हो सकता।

उत्तर—(क) यद्यपि यह शास्त्र-सम्मत सिद्धान्त है कि ब्रह्म वाङ्मनसागोचर है, परन्तु श्रुति का परम प्रयोजन तो ब्रह्म-ज्ञान ही है और इसीलिए प्रधानतया श्रुति की प्रवृत्ति हुई है, अन्यथा श्रुति निष्फल तथा अप्रामाणिक हो जाती। यदि ब्रह्म-ज्ञान के उपाय ध्यान आदिकों का निषेध होगा, तो ज्ञान का उपायभूत उपनिषद् विद्या भी खण्डित हो जाएगी। इसलिए ज्ञान का उपाय उपनिषद् को स्वीकार करना ही पड़ेगा। श्रुति—उपनिषद्—के इस विषय में अपूर्व प्रमाण स्वीकृत होने पर भी जैसे अन्य प्रमाणों की सफलता के लिए अन्य सहकारी साधन अपेक्षित होते हैं, वैसे ही श्रुति प्रमाण की सफलता के लिए भी समाहितचित्त आदि अन्य सहकारी साधनों की आवश्यकता है।

(ख) इस लिए यद्यपि उपर्युक्त केन, तैत्तिरीय उपनिषद् आदि के श्रुति वचन ब्रह्म को वाङ्मनसागोचर तत्त्व प्रतिपादन करते हैं,

परन्तु अन्य श्रुतियां बुद्धि के उपयोग का भी निर्देश करती हैं और योग का सहायकरूप से प्रतिपादन करती हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ कठ ३,१२.

"यह आत्मा सर्व जड चेतन भूतों में माया के पर्दे के पीछे छिपा हुआ है, इस लिए सर्व साधारण बहिर्मुख, स्थूलबुद्धि वालों को उसका प्रकाश (ज्ञान) नहीं होता, परन्तु सूक्ष्मदर्शी, कुशल जन इस सूक्ष्मतम तथा अन्तरतम तत्त्व का एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धि द्वारा साक्षात्कार करते हैं"।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
कठ २,१२.

"जो आत्म-तत्त्व योग-माया के पर्दे में छिपा हुआ है, जो सर्व पदार्थों में व्याप रहा है, तथा सब की हृदय रूपी गुफा में स्थित है, संसाररूप गहन वन में निवास करता है, जो सनातन है, इसीलिए जिसका दर्शन अत्यन्त कठिन है, शुद्ध तथा स्थिर मति वाले अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा उसके दर्शन कर हर्ष शोक को छोड़ देते हैं"।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥
कठ ६,१६.

"मनुष्य के हृदय से १०१ नाडियां निकलती हैं, उन में से एक सुषुम्णा ऊपर की ओर जाती हुई मूर्धा—कपाल—ब्रह्म-रन्ध्र की ओर निकलती है। उसके द्वारा मनुष्य ऊपर के लोकों में

जाकर अमृत पद को प्राप्त होता है। शेष १०० नाडियों द्वारा उत्क्रमण करने पर पुनः संसार की प्राप्ति होती है"।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

श्वेता० २,८.

"विद्वान् (शिर, ग्रीवा और छाती) तीन उन्नत भागों को सम (एक रेखा में सीधा) स्थापन करके तथा इन्द्रियों का मन सहित हृदय में निरोध करके, ओंकार रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयङ्कर प्रवाहों को पार कर जावे"।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संदधीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

मुण्डक २,२,३.

"उपनिषद् में प्रसिद्ध धनुष रूपी महान् अस्त्र को लेकर उस पर उपासना (निरन्तर ध्यान) द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाए, फिर उसको (इन्द्रिय सहित मन को) अक्षर ब्रह्म में अनन्य भाव (भक्ति) द्वारा खींचकर अपने २ विषय से पृथक् करे। हे प्रिय ! उस अक्षर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को ही विद्ध करे अर्थात् ब्रह्म में ही मन को स्थिर करके उसको ब्रह्माकार बना दे"।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ सांख्य ६,२९.

"ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदि से मन का निरोध होता है"।

वैराग्यादभ्यासाच्च । सांख्य ३,३६.

"वैराग्य और अभ्यास द्वारा मन का निरोध होता है"।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। न्याय ४,२,४२.

"वन, गुफा, नदी तट आदि एकान्त, शुद्ध, निर्मल तथा अनुकूल स्थान में योग-समाधि अभ्यास का उपदेश है, अर्थात् योग में प्रतिबन्ध निवृत्ति के लिये एकान्त स्थान का सेवन करे"।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो
योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः। न्याय ४,२,४६.

समाधि अथवा अपवर्ग की सिद्धि के लिए यम नियम अनुष्ठान द्वारा, तथा योग शास्त्र वर्णित आत्म-तत्त्व प्राप्ति के साधनों (प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान) द्वारा आत्मा का संस्कार करना चाहिए। अर्थात् इन साधनों से अधर्म का नाश तथा धर्म की वृद्धि से अन्तःकरण को लक्ष्यसिद्धि के लिये संस्कृत करना चाहिए।

अपवर्ग के साधन ज्ञान के सविस्तर निरूपण के पश्चात् न्यायदर्शन के इन दो सूत्रों में ज्ञान के साधन योग का, यम नियमादि अंगों के सहित, उपदेश मिलता है, जिसका सम्यक् विस्तार योगदर्शन में हुआ है। और इसका आशय यह है कि तत्त्वज्ञान सामान्य तथा केवल तर्क—ऊहापोह—आदि के बल पर प्राप्त नहीं हो सकता। न्याय-दर्शन तर्कप्रधान शास्त्र होने पर भी यह स्वीकार करता है कि केवल तर्क या विवेचन द्वारा उस परम-तत्त्व का सफल साक्षात्कार नहीं हो सकता। प्रत्युत तत्त्व-प्रत्यक्ष तथा दोष-निवृत्ति से होने वाली तत्त्व-निष्ठा के लिए योग की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार करता है।

योगदर्शन का तो कहना ही क्या है, जिसकी प्रवृत्ति ही योग के प्रतिपादन के निमित्त से हुई है। ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास भगवान् का योगदर्शन पर अति प्राचीन तथा प्रामाणिक भाष्य मिलता है, इसलिए योग का समूल खण्डन नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मसूत्र (२,१,३) "एतेन योगः प्रत्युक्तः" का उल्लेख किसी विशेष सिद्धान्त में मत-भेद के कारण किया गया हो सकता है। चित्त का समाधान ब्रह्मविद्या के अन्तरंगतम साधन षट्सम्पत्ति का अत्युपयोगी अंग है। और जिस योग का वर्णन अनेक स्थलों पर उपनिषदों में आता है, उसका समर्थन तथा उन उपनिषदों में वर्णित उपासनाओं के विषयों में संशयों का निवारण स्वयं ब्रह्म-सूत्रकार ब्रह्मसूत्र के तृतीयपाद में करते हैं। वेदान्तदर्शन में भी योग का इस प्रकार समर्थन मिलता है:—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

वेदान्तदर्शन ३ २,२४.

भगवान् शंकरकृत भाष्य का अर्थः—इन्द्रिय अग्राह्य (ग्रहण अयोग्य) होने पर भी समस्त प्रपञ्चशून्य (भिन्न) तथा अव्यक्त आत्मा को संराधन समय में देखते हैं। संराधन का अर्थ है—भक्तिसाधन आदि (जप नमस्कार······) अनुष्ठान द्वारा संस्कृत चित्त का सर्वान्तर आत्मा में विशेष रूप से निधान—लगाना। यह कैसे पता चलता है कि संराधन समय में आत्म-साक्षात्कार होता है? श्रुति-स्मृति द्वारा संराधन के महत्त्व का ज्ञान होता है। क्योंकि निम्नलिखित श्रुति-स्मृति इसका समर्थन करती हैं:—

(१) स्वयंभू (परमात्मा) ने अनात्म (भौतिक-बाह्य) पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की हिंसा की। (अर्थात् इन्द्रियां अमरत्व के साधनभूत आत्म-तत्त्व को देखने की योग्यता से शून्य हैं। इसलिए प्राणी इनके विषयों को ही परम इष्ट समझते हुए तथा इन इन्द्रियों के वश हुए आत्म-तत्त्व को नहीं देखते। इसलिए कोई बुद्धिमान् मनुष्य (इन्द्रियों तथा इन के विषयों के संहार-मूलक दोष को समझने वाला) इन्द्रियों को (विषयों से) निरुद्ध कर, मोक्ष चाहने वाला अन्तरात्मा (शुद्धचित्त में शास्त्र-द्वारा) के दर्शन करता है। कठ० ४,१

(२) जिन प्रयत्नशील साधकों ने विषय के संसर्ग से उत्पन्न हुई रागादि की कालिमा की निवृत्ति से ज्ञान (बुद्धि) के प्रसाद (स्वच्छता—शान्ति) द्वारा अन्तःकरण को पूर्णतया शुद्ध कर लिया है, उन में ही आत्म-दर्शन की योग्यता होती है। इसलिए ऐसे साधक ही उस सर्व व्ययरहित आत्मा का (एकाग्रमन से) निरन्तर चिन्तन करते हुए उसका दर्शन करते हैं। मुण्डक ३,१,८

(३) निद्रा से रहित श्वास को वश में करते हुए (प्राणायामनिष्ठ), जिन की इन्द्रियां संयम में है, वे ध्यान करते हुए जिस ज्योति को देखते हैं उस योग-लभ्य आत्मा को नमस्कार है। उस सनातन भगवान् को योगी सम्यक् प्रकार से देखते हैं। (स्मृति इत्यादि)

बृहदारण्यकोपनिषद् (४,५,६) के उस प्रसिद्ध उपाख्यान में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मदर्शन के माहात्म्य तथा उपायों को बताया; "न वा अरे पत्युः कामाय" से आरम्भ करके जाया, पुत्र, वित्त, ब्रह्म, क्षत्र, जाति, लोक, देव सर्वपदार्थों का वर्णन करते हुए कहा है कि ये सब आत्मा को अपने लिए ही प्यारे होते हैं, पदार्थ पदार्थों के लिए प्यारे नहीं होते; "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" परन्तु सब कुछ आत्मा के लिए ही प्यारा होता है अतः—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे
श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ॥"

"हे मैत्रेयि! आत्मा को ही देखना, सुनना, मनन करना, ध्यान करना चाहिए, क्योंकि आत्मा के देखने, सुनने, मनन

करने से यह सब कुछ देखा, सुना, मनन किया तथा जाना जाता है"। इस प्रसंग में भी आत्म-दर्शन के उपायरूप से उपनिषद्—ब्रह्मविद्या उपदेश—के केवल श्रवण अथवा मनन का ही निर्देश नहीं है, प्रत्युत निदिध्यासन का भी है। अर्थात् निदिध्यासन की भी इन उपायों के साथ-साथ अनिवार्य आवश्यकता है। केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत केवल श्रवण से इसका महत्त्व बहुत अधिक है, जिसका निरूपण स्वयं भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में किया हैः—

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं
न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।
समाधिनाऽत्यन्तसूक्ष्मवृत्त्या
ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥ वि० चू० ३६१.

"परमात्मा (अन्य अनात्म पदार्थों की अपेक्षा) अत्यन्त सूक्ष्म है। (इसलिए अनात्म स्थूलपदार्थ ग्राहक) स्थूलबुद्धि की समझ (पकड़) में नहीं आता। शुद्ध (विरक्त) बुद्धि-सम्पन्न श्रेष्ठ (वेदानुयायी आस्तिक) पुरुषों को समाधि (निदिध्यासन) से अत्यन्तसूक्ष्म (आत्माकार) वृत्ति द्वारा इस आत्मतत्त्व का जानना योग्य (युक्त) है"।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥
वि० चू० ३६५

"श्रवण से सौ गुणा अधिक मनन को जानना चाहिए तथा मनन से भी निर्विकल्प निदिध्यासन को लाख गुणा अधिक जानना चाहिए"।

निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।
वि० चू० ३६६

"निर्विकल्प समाधि की महिमा तो अनन्त है, निश्चय ही निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मतत्त्व निश्चित ही स्पष्ट समझ में आजाता है। इसके विपरीत मनोगति के चलने पर तो वह अन्य प्रत्ययों में मिला हुआ सा हो जाता है"।

पंचदशी में भी योग का ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान के सहकारी साधन होने के रूप में वर्णन है:—

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये ॥
वाक्यं प्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥
परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥

पंचदशी १,६१–६४

"निदिध्यासन अथवा योग द्वारा सम्पूर्ण वासना समूह सर्वथा विलीन हो जाता है और पापपुण्यरूप कर्मसंचय, अविद्या, राग आदि मूल सहित नाश हो जाता है। इसलिए निदिध्यासन से पूर्व महावाक्य द्वारा वासना तथा कर्मों के प्रतिबन्ध के कारण परोक्ष ज्ञान ही होता है। परन्तु निदिध्यासन से उपर्युक्त प्रतिबन्धों के नाश हो जाने पर महावाक्य द्वारा हथेली में रखे आंवले के समान ब्रह्मात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। श्रोत्रिय

ब्रह्मनिष्ठ गुरु से महावाक्य के श्रवण के कारण उत्पन्न ब्रह्म का परोक्ष विज्ञान जानबूझ कर किये पापों को अग्नि के समान जला देता है, परन्तु निदिध्यासन से उत्पन्न आत्मा का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान संसार के पूर्ण अज्ञानरूपी अन्धकार को सूय के समान नाश कर देता है"।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए निदिध्यासन रूपी योग की अनिवार्य आवश्यकता है। यद्यपि ब्रह्म वाङ्मनसागोचर तत्त्व है, तो भी श्रुति उसके निरूपण का यत्न करती है। ब्रह्म नितान्त अज्ञेय नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान ही संसार-बंधन के विमोचन का एकमात्र उपाय है। उसी का श्रुति प्रतिपादन करती है। इसी में श्रुति की अपूर्वता है। समाहितचित्त एकाग्रभूमिवाला ही इस ब्रह्मविद्या के श्रवण का अधिकारी है। और श्रवण के अनन्तर भी सामान्यतया मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता रहती है। निस्सन्देह श्रुति ही ब्रह्म के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है। और यह स्वीकार कर लेने पर भी कि श्रुति के अनुसार महावाक्य के श्रवण के विना ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता, और सर्वोत्तम अधिकारी को केवल श्रवण से ही ज्ञान हो जाता है। परन्तु ऐसा सर्वोत्तम अधिकारी कोई विरला भाग्यवान् ही हो सकता है और वह अन्य साधारण अधिकारियों की अपेक्षा से ही तो सर्वोत्तम कहलाने के योग्य होता है। इसलिए यह नियम सर्वसाधारण अधिकारियों के विषय में लागू नहीं किया जा सकता। सामान्यतया तो यही नियम है कि ब्रह्म-विद्या श्रवण के अधिकार के लिए सामान्य समाहितचित्त का होना आवश्यक है। और श्रवण के पश्चात् भी मनन तथा निदिध्यासन का सामान्य नियम ही उपयुक्त है। सफल ज्ञान-निष्ठा का निरन्तर दीर्घकालीन निदिध्यासन के विना होना असम्भव है। केवल

शब्द (वाक्य-योजना) से तो निश्चित, असंदिग्ध परोक्ष ज्ञान का होना भी कठिन है। श्रुति के तात्पर्य का दृढ निर्णय ही समाहितचित्त के विना नहीं हो सकता, तो फिर सामान्य सूक्ष्म बुद्धि के भरोसे आत्म-साक्षात्कार तो असम्भव ही है (मुण्डक ३,२,३)।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

"यह आत्मा न प्रवचन (शास्त्र-व्याख्यान) से प्राप्त होता है, न मेधा (प्रकृष्ट बुद्धि) मात्र से और न बहुत शास्त्र श्रवण से परन्तु, जो जिज्ञासु अनन्य भाव से इस आत्मा का वरण करता है, यह आत्मा अपने तन (स्वरूप) को इसके सम्मुख व्यक्त कर देता है"।

इसका विस्तार पूर्वक निरूपण करने की आवश्यकता इसलिए हुई है, क्योंकि आज कल प्रायः ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए केवल श्रवण और मनन पर्याप्त हैं निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं है।

३. उपर्युक्त भ्रान्ति का दुष्परिणाम

शास्त्र में ज्ञान का महत्त्व दर्शाने के लिए अथवा अन्य प्रसंगों में किसी अन्य दृष्टि से जिन वचनों द्वारा योग का खण्डन किया गया है, मोह, प्रमाद अथवा आलस्य के वश उनका यथार्थ तात्पर्य ग्रहण नहीं किया जाता। और इसी लिए प्रायः आज कल किसी प्रकार की उपासना, ध्यान, योग को ब्रह्मविद्या में बाधक समझा जाता है और अधिकारोचित साधना को छोड़ कर केवल विचार ही ब्रह्मविद्या का एकमात्र साधन मान लिया गया है। अतः ध्येय की सिद्धि नहीं होती, केवल शब्द का चातुर्य

अवश्य हो जाता है। ऐसे लोगों में सामान्य बाह्य व्यवहार भी सर्व साधारण से कुछ विलक्षण नहीं होता, तथा संसार से विरति का कोई चिह्न नहीं दीखता। ऐसे केवल वाचक ब्रह्मज्ञानियों को देख कर सर्वसाधारण में ब्रह्मविद्या के प्रति नास्तिकता तथा अश्रद्धा हो जाती है। और उनके लिए भी यह केवल वाचक ब्रह्मविद्या परमलक्ष्य प्राप्त करवाने में असमर्थ होती है। इस प्रकार इसका दुरुपयोग होता है और मनुष्य उभयभ्रष्ट हो जाता है। जो श्रुति के वचन केवल ज्ञान से मुक्ति होने का प्रतिपादन करते हैं, वे सर्वथा सत्य तथा तथ्य हैं। परन्तु उनका तात्पर्य सामान्यावस्था के जिज्ञासु के लिए अन्य उपयोगी साधनों के खण्डन में नहीं है। श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मविद्या के अन्य उपयोगी योग, असंप्रज्ञातसमाधि, निदिध्यासन आदि साधनों सम्बंधी वाक्यों की सर्वथा उपेक्षा करके उपर्युक्त ज्ञान के माहात्म्य सम्बंधी श्रुति के वचनों का इस प्रकार से अर्थ करना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि दूसरे उपयोगी साधनों के प्रतिपादक वचन भी तो श्रुति के ही हैं। यहां तक कि तर्कप्रधान शास्त्र न्याय दर्शन भी तत्त्वज्ञान के उपाय रूप में योगाभ्यास, ध्यान आदि का कथन करता है। निस्सन्देह योग, उपासना, वैराग्य आदि साधनों के सम्पादन करने की अपेक्षा शास्त्र का पाठ कर लेना सरल है, परन्तु इस सरल मार्ग की चाह में प्रमाद, आलस्य के वश इन उपयोगी साधनों का त्याग देना, उन का खण्डन करना अथवा जो कोई इन साधनों को करता है उसको अज्ञानी की उपाधि प्रदान कर अपनी तथा भोले भाले अन्य सज्जनों की वञ्चना नहीं करनी चाहिए। लाखों रुपयों के गुणा भाग कर लेने मात्र से जैसे कोई लखपति नहीं हो जाता, ऐसे ही शास्त्रों के पाठ अथवा विचार मात्र से विरति, शान्ति तथा परमानन्द की उपलब्धि नहीं होती। अतः शास्त्रनिर्दिष्ट साधन-

चतुष्टय-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर, ब्रह्मविद्या का अधिकार प्राप्त करके उपनिषदादि का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (योग) करने से ही परम लक्ष्य की सिद्धि होती है। इस शास्त्रोक्त मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। कुछ विचारशील यहां यह आक्षेप करते हैं कि हठयोग आदि अनन्त दीर्घकाल तथा बहु आयास-साध्य उपासनाओं के अनुष्ठान से क्या लाभ है? कलियुग में अल्पायु मनुष्य इन में ही अपनी आयु का अपव्यय कैसे कर सकते हैं? यह बात सत्य है, कि सब उपायों को उपाय दृष्टि से ही उपयोग में लाना चाहिए। किसी साधन के विषय में ही निन्यानवे के चक्कर में पड़े रहना अनर्थकारी भूल है। इसलिए कुशल बुद्धि वाले ऐसे जिज्ञासुओं को, जिनका लक्ष्य मोक्ष है, इन साधनों के ही अत्यन्त विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु श्रुति प्रतिपादित योग मात्र का तिरस्कार तथा इस विषय में प्रमाद भी उसी प्रकार से तुल्य अनर्थ का हेतु है जिस प्रकार कि इन साधनों में लगे रहना और लक्ष्य को भूल जाना है। अतः इस से सतर्क रहना चाहिए और अपने अधिकार के अनुसार ब्रह्मविद्या के उपयोगी निष्काम कर्म अथवा योग, उपासना आदि का अवलम्बन करना चाहिए। केवल ज्ञान के महत्त्व का पाठ करके इन सब अत्यन्त उपयोगी साधनों को तिलाञ्जलि नहीं देनी चाहिए।

४. योग के सम्बन्ध में द्वितीय भ्रान्ति

परमलक्ष्य की सिद्धि में केवल योग पर्याप्त है,
शास्त्रज्ञान निष्फल तथा बाधक है।

आजकल ब्रह्मविद्या के परस्पर उपयोगी अंग पृथक् पृथक् पड़े हुए हैं। श्रुति में भिन्न २ उपयोगी साधनों के वचन उन उन साधनों के यथास्थान मिलना आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु

उनके परस्पर समुच्चयरूपी तात्पर्य को ग्रहण न करके किसी एक उपाय का अनुष्ठान तथा अन्यों का त्याग किया जाता है, जिस का अनिवार्य दुष्परिणाम यह होता है कि फल की सिद्धि नहीं होती अथवा सिद्धि में न्यूनता रह जाती है।

पूर्वपक्ष—अध्यात्म-पथ के जिज्ञासुओं के दो वर्ग देखने में आते हैं। एक वर्ग का वर्णन ऊपर हो चुका है, जो केवल शास्त्र-पाठ तथा विचार के आधार पर तत्त्वज्ञान की उपलब्धि करना चाहते हैं। जो ज्ञान को मोक्ष-सिद्धि का स्वतन्त्र साक्षात् साधन मानते हैं और योग आदि अन्य साधनों को अनावश्यक अथवा ज्ञान का बाधक मानते हैं। वे लोग योगरूपी एक पक्ष को काट कर केवल ज्ञानरूपी एक पक्ष के आधार पर एक पक्ष वाले पक्षी की तरह निज धाम में शीघ्रतम पहुंच जाने की इच्छा करने की भूल करते हैं। दूसरा वर्ग उन अध्यात्म-जिज्ञासुओं का है, जिन पर योग के स्तुतिपरक शास्त्रवाक्यों का विशेष प्रभाव है। उनकी यह दृढ धारणा है कि केवल योग से ही परमलक्ष्य की सिद्धि निश्चित है तथा शीघ्रतम हो सकती है। वे शास्त्र-श्रुति-पठन-पाठन को निरर्थक ही नहीं, प्रत्युत बाधारूप समझते हैं। उन्हें योगसम्बन्धी शास्त्र के भी पाठ की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वे कहते हैं कि योगशास्त्र पढ़ने से कहां समझ में आ सकता है? ऐसा कहना उनका सत्य भी है। अतः जैसे तैसे प्राप्त हुई योग की विधि का अनुसरण करते हुए ही उन्हें परमलक्ष्य की सिद्धि का दृढ विश्वास है। वे बुद्धि द्वारा विवेचन करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं समझते।

५. *शास्त्र उपेक्षा का आधार*

शास्त्र के वचनों की उपेक्षा में निश्चय वालों का आधार भी शास्त्रवचन ही हैं परन्तु वे शास्त्र के वास्तविक तात्पर्य को न

समझ कर ऐसी भूल करते हैं। वे अपने पक्ष में निम्नलिखित शास्त्रवचनों का प्रमाणरूप से उल्लेख करते हैं:—

मैत्रायणी उपनिषद् (४,८) कैवल्योपनिषद् (१,११) गीता (६,४६)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

मुण्डक ३,२,३.

यह (परमश्रेष्ठ) आत्मा न प्रवचन (बहुत शास्त्र अध्ययनमात्र) से प्राप्त होता है; न मेधा (ग्रंथ अवधारण शक्ति—तात्पर्य को ग्रहण करने और स्मरण रखने की शक्ति) से; न बहुत शास्त्र (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठगुरु द्वारा) श्रवणमात्र से। जिस परमात्मा को यह मुमुक्षु वरण करता है (अर्थात् प्राप्त करने की अनन्य इच्छा करता है); उस (अनन्य प्रेम) द्वारा ही वह परमात्मा प्राप्त होता है। (अन्य किसी साधन से नहीं) उस के लिए यह अपने (अविद्या आच्छादित) तनु (आत्मस्वरूप) को प्रकाश कर देता है। अर्थात् यह (परम श्रेष्ठ) आत्मा जिज्ञासु का अपना आप है। इसका तथ्य स्वरूप इस से दूर अथवा पृथक् नहीं है। केवल अनात्म-प्रेम के कारण मोह—अज्ञान—द्वारा अन्यत्र संलग्न होने से सदा प्राप्त होने पर भी मानो अत्यन्त अप्राप्त सा हो रहा है, जैसे असंख्य योजन इस से दूर हो। केवल अनात्म-मोह अथवा अनात्म-दृष्टि को त्यागने मात्र से (विना किसी अन्य उपाय के) वह सुलभ है।

अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ केन० १,४.

वह आत्मा ज्ञात से भी भिन्न है और अज्ञात से भी भिन्न। यह हमने पूर्व (तत्त्व) आत्म-दर्शियों से श्रवण किया है, अर्थात

वह आत्मा स्वतःप्रकाश, स्वतःसिद्ध, ज्ञान तथा अज्ञान का विषय कदापि नहीं होता, अतः बहुशास्त्र-अध्ययन आदि निष्प्रयोजन है।

तमेव विज्ञाय धीरः प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

बृ० ४, ४, २१.

(उपदेश तथा शास्त्र से) इस अप्रमेय (स्वतःप्रकाश, ज्ञान-स्वरूप होने से जो बुद्धि, चक्षु आदि प्रमाण का अविषय है) आत्मा को जान कर, ब्राह्मण (ब्रह्ममात्र जिज्ञासु) (जिज्ञासा को समाप्त करने वाली, शास्त्र तथा आचार्य के उपदिष्ट विषय) अप्रमेय, स्वतःप्रकाश आत्मा में निरन्तर बुद्धि को स्थिर करे अर्थात् आत्माकार वृत्ति का प्रवाहरूप से निदिध्यासन करे। शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के तात्पर्य के असंदिग्ध निश्चय के पश्चात् निदिध्यासन रूप योग ही कर्तव्य है। बहुत शास्त्रों का अध्ययन न करे, क्योंकि, अध्ययन का फल—तात्पर्य-ग्रहण—सिद्ध हो चुका है, उसके पश्चात् यह पिष्ट-पेषण के समान निरर्थक है। यह वाणी से उपलक्षित बुद्धि का केवल श्रम मात्र है।

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम् ।
एतज् ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥

मैत्रा० उ० ४,८.

मन के निरोध का अभ्यास तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक यह आत्मा में लीन नहीं हो जाता, (आत्मा से पृथक् प्रतीति ही आत्मा के ज्ञान तथा आनन्दानुभूति में बाधा है, अर्थात् आत्मानुभूति के लिए यह मनोनिरोध ही एक अनिवार्य उपाय है) इसलिए यह मनोनिरोध ही (ज्ञान तथा आनन्द-उपलब्धि रूप मोक्ष का साधन होने से) ज्ञान तथा मोक्ष है, इस

से भिन्न तो ग्रन्थों का विस्तार मात्र है, उस से लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती।

भक्तिर्योगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीयते ॥

भक्ति योग से श्रेष्ठ है और योग सम्यक् (संशय विपर्यय रहित) ज्ञान से श्रेष्ठ है ।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥

कैवल्योपनिषद् १,११

(अन्तःकरण) आत्मा को नीचे की अरणि (अग्नि जलाने की लकड़ी) और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर अर्थात् सुविज्ञ, चतुर जिज्ञासु अपने मन बुद्धि का निरन्तर प्रणव (वाचक) तथा वाच्य ब्रह्म (अथवा प्रणव वाच्य—लक्ष्य—ब्रह्म) में लगाकर (प्रणव लक्ष्य ब्रह्म के निरन्तर ध्यान द्वारा) ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित कर, पाप तथा तन्मूल अज्ञान को भस्मसात् कर देता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ गी६,४६

तपस्वियों, ज्ञानियों तथा कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इस लिए हे अर्जुन ! तू योगी बन ।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ सांख्य दर्शन ५,११६.

समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में आत्मा ब्रह्मरूप (अन्तःकरण वृत्ति परिच्छेद रहित अपरिच्छिन्न चिन्मात्र) होता है, दुःख-सुख, राग-द्वेषरूपी संसार कालिमा से रहित होता है । इन तीनों स्थितियों में केवल आगे दिया हुआ ही भेद होता है:—

(१) समाधि काल में मन विद्यमान होता है, परन्तु निरुद्ध होने से आत्माकार होता है। अनात्म-संसाररूप इसका ज्ञान अभ्यास से अभिभूत होता है। अतः जीवनकाल में ही जीव अपने शुद्ध, अपरिच्छिन्न, ब्रह्मस्वरूप में स्थित होता है। ज्ञानी इस काल में जीवन्मुक्त के (स्वरूप) आनन्द का अनुभव करता है।

(२) सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण के अज्ञान में लीन होने से जाग्रत तथा स्वप्न-वृत्ति के अभाव के कारण वृत्तिप्रयुक्त परिच्छेद से रहित होता है, परन्तु अज्ञान में लीन होने से न अपने स्वरूप को तथा (स्वरूप) स्फुट आनन्द को अनुभव करता है। हां! संसारविक्षेप के अभाव में समाधि तथा मोक्ष काल से इसकी समानता है, परन्तु ज्ञान तथा जीवन्मुक्ति के आनन्द तथा ज्ञान फल विदेह मुक्ति में भेद होता है।

(३) मोक्ष दशा में मन का नितान्त अभाव होता है (मन का स्वरूपनाश होता है—वेदान्त परिभाषानुसार) इसलिए वहां संसार कालिमा के सम्पर्क, अभाव तथा भाव (पुनरुत्थान दशा में) का प्रश्न ही नहीं होता। प्रथम समाधि स्थिति में मन निरुद्ध होता है। दूसरी सुषुप्त अवस्था में मन अज्ञान में लीन होता है और तीसरी मोक्ष दशा में मन का अत्यन्त अभाव होता है।

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा॥

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ३.

क्योंकि निर्विषय मन की अवस्था को ही मुक्ति कहते हैं। जहां परम रस को पाकर परमतृप्ति लाभ करता है। यह अवस्था ही मुक्ति की जन्मदात्री है। उसके पश्चात् प्रेम, तथा यहअवस्था सहज हो जाती है, इसलिए मुमुक्षु को मन निर्विषय करना

चाहिए, अर्थात् मन के निरोधरूप असंप्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

योगदर्शन तो सम्पूर्णयोग के निरूपण के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। वह चित्त-वृत्ति-निरोध से होने वाली स्वरूपस्थिति से ही परमलक्ष्य की सिद्धि का निरूपण करता है। योगदर्शन में कहा है:—

तस्य भूमिषु विनियोगः ३,६

एक भूमि में संयम द्वारा उस भूमि के विजय हो जाने पर अर्थात् उस भूमि में संयम की दृढ, स्वाभाविक, निरायास स्थिति हो जाने पर दूसरी भूमि में संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) का अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि निकृष्ट तथा मध्यम भूमि-जय के अनन्तर ही प्रान्त भूमि में संयम का सामर्थ्य हो सकता है। इस भूमि के अनन्तर अब कौन सी भूमि है, अर्थात् अब आगे साधक को किस भूमि का अभ्यास करना चाहिए, इसका उपाध्याय(निर्देशक) कौन सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में व्यास भगवान् इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं:—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते।
यो अप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

योग ही इस विषय में उपाध्याय (निर्देशक) है, अन्य कोई शास्त्रादि शिक्षक नहीं। योग से ही योग जानना चाहिए। योग के द्वारा ही योग की अनन्तर भूमियों में प्रवृत्ति होती है। जो साधन में प्रमाद नहीं करता, वह योग द्वारा योग में दीर्घ काल तक रमण करता है, अर्थात् उस की स्थिति—निष्ठा—दृढ हो जाती है। इस प्रकार के अनेक वचनों का भ्रान्तिवश ऐसा अर्थ समझते हैं कि योग में जिस किसी प्रकार एक वार प्रवृत्त हो

जाने से फिर किसी बाह्य अन्य शास्त्रादि के निर्देश—शिक्षा—की आवश्यकता नहीं रहती, फिर योग स्वयं ही अन्तिम ध्येय तक पहुंचा देता है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के कारण अपने आप शास्त्र का मनन त्याग देते हैं तथा इसी प्रकार के विचार का प्रचार करते हैं। इस प्रकार योग के अलौकिक सामर्थ्य की स्थापना को द्वार बनाकर अपने महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। इसी भ्रान्ति तथा मोह के कारण अनेक क्षुद्र योगमार्गों तथा उन मार्गों का आश्रय लेने वाले सम्प्रदायों का प्रचार हुआ है। और आर्य सन्तान श्रुतिसम्मत योग प्रणाली से पृथक् हो गयी है। तथा प्राचीन योग-प्रणालियों के अति गौण, क्षुद्र भागों को अनुचित महत्त्व दे दिया गया है। विना विशेष अनुभव के ग्रन्थों की रचना होने लगी है और इस ने तो रही सही योग की सनातन आर्ष प्रणाली को भी राख में मिला दिया है। इसका कुछ निरूपण अगले प्रकरण में होगा।

न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं प्राप्नुवन्ति द्विजा योगाच्छक्ताः संप्राप्नुवन्ति याम्॥

अत्रि संहिता

तीव्र तप, स्वाध्याय अथवा यज्ञों द्वारा ब्राह्मण उस गति को प्राप्त नहीं करता, जिस को योग की शक्ति से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के अनेक वचनों के आधार पर अपने इस मत का, कि शास्त्र अध्ययन आदि की अपेक्षा योग की सामर्थ्य विलक्षण है, समर्थन तथा अवलम्बन किया जाता है और कहा जाता है कि शास्त्र का अध्ययन उस वाङ्मनसागोचर तत्त्व के बोध में क्या काम दे सकता है। शास्त्र का अध्ययन निरर्थक है, ब्रह्म-विषयक ध्यान, प्रज्ञा, निष्ठा को ही दृढ करने का यत्न करना चाहिए। शास्त्र के अध्ययन से वाणी तथा अन्य इन्द्रियों और

बुद्धि आदि को केवल श्रम होता है, इस से परमार्थ-सिद्धि नहीं होती। अथवा यह भी कहा जाता है कि आत्म-तत्त्वरूप ध्येय वस्तु में चित्त का निरोधरूपी योग ही ज्ञान तथा ध्यान है। शेष तो सब ग्रन्थों का केवल निरर्थक उलझनों में डालने वाला विस्तार या एक रूप है, जो कि जिज्ञासु के मन में अनेक संशय, तर्क-वितर्क का हेतु बनकर अश्रद्धा उत्पन्न करके उसे किसी मार्ग का अनुसरण करने के योग्य नहीं रहने देता। अथवा शास्त्र की आवश्यकता ही क्या है ? योग में अद्भुत सामर्थ्य है। शास्त्र तो योग की उपज है। योगी तो स्वयं ऐसे शास्त्रों की रचना कर सकते हैं। ऋषि-मुनियों ने सृष्टि के उत्पत्ति काल में कौन से शास्त्र पढ़े थे ? पूर्वकर्मों के परिपाक के वश तथा ईश्वरानुग्रह से उन्हों ने इसी योग-विभूतिद्वारा—तीसरे दिव्य ज्ञानचक्षु द्वारा—ईश्वरीय नित्य ज्ञान को प्रत्यक्ष देखा था। क्या अब योग में वह सामर्थ्य नहीं ? इस प्रकार के युक्ति क्रम से प्रमाद, मोह, तथा भ्रान्ति के वश और अपनी अनुचित महिमा के विस्तार के लिए या अपने शास्त्र-ज्ञान के अभाव रूपी हीनता आदि की लज्जा को छिपाने के लिए शास्त्र—श्रुति—का उपयुक्त आदर तथा उपयोग नहीं किया जाता।

उत्तर पक्ष—परन्तु ऐसा कहना अथवा करना मोहवश या जानबूझ कर श्रुति वाक्यों के तात्पर्य को अन्यथा ग्रहण करना या प्रकट करना है। इसका समर्थन उपर्युक्त वचनों से तथा पूर्व प्रकरण में उद्धृत श्रुति के श्रवण, मनन समर्थक वचनों तथा अन्य श्रुति के वाक्यों से किया जा सकता है। निस्सन्देह योग में बहुत सामर्थ्य है, सृष्टि के उत्पत्ति काल में वेद-मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने किसी सामान्य गुरु द्वारा श्रुति का स्वाध्याय नहीं किया था। परन्तु ईश्वर की यह उन पर विशेष कृपा निराधार नहीं थी। पूर्वकल्प में श्रुति के अध्ययन के अनन्तर श्रुति के

मार्ग का अनुसरण करने का फलरूप ही तो यह अपार कृपा थी, अन्यथा जगत् नियामक ईश्वर पर ही विना कारण के राग-द्वेष तथा अन्याय का दोष लागू होता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उस समय तो वेद—श्रुति—इस रूप से उपस्थित ही नहीं थे, अतः उन के अध्ययन का प्रश्न ही नहीं होता। क्या सर्वसामान्य मनुष्य दिव्य चक्षु सम्पन्न है, जो वह शास्त्र-आदेश या शिक्षा के विना निर्वाह कर सकता है ? बृहदारण्यक उपनिषद् (४,५,६) में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" में भी आत्मदर्शन के लिए तीन प्रधान उपायों का वर्णन है। आत्म-दर्शन के लिए आत्म-सम्बंधी उपनिषदादि का श्रवण और मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि तीन में से अकेले किसी एक से सफलता सम्भव नहीं है। यह हो सकता है कि इन साधनों का तारतम्य हो, परन्तु अपने २ स्थान पर तीनों ही आवश्यक हैं। निदिध्यासन का महत्त्व अधिक स्वीकार कर लें, तो भी श्रवण के विना इसका अवकाश ही नहीं है। बीज का प्रथम अंकुर बहुत कोमल तथा बलहीन होता है। फूल, फल, पत्ते तथा शाखाओं से युक्त-महान् वृक्ष से जो कार्य सिद्ध हो सकता है, वह अंकुर से नहीं हो सकता, परन्तु यदि अंकुर ही न हो, तो यह विशाल पेड़ होगा ही कहां से ? और यदि अंकुर की समय पर उचित रक्षा न की जावे तो वह उगता ही नहीं, उग जावे तो बढ़ता नहीं, बढ़ भी जाये तो फलवान् नहीं होता, यदि फल भी जाये तो वह अनेक दोषों से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार यदि श्रवणहीन हो तो मनन तथा निदिध्यासन किस का होगा ? जिसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई, उसके बाल्य तथा यौवन की क्या कथा ? श्रुति ही ध्येय तथा साधन के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण है। इसका विस्तृत निरूपण आत्म-पथ के द्वितीय खण्ड में हो चुका है।

अतः श्रुति को छोड़ कर स्वतन्त्र मति से इस पथ में परिश्रम कहां तक सफल हो सकता है। ऐसे विचार रखना ईश्वर तथा योग में परम नास्तिकता है, आस्तिकता नहीं। श्रुति के विना यह निर्णय ही कैसे होगा कि जिज्ञासु सुपथ पर चल रहा है या कुपथ पर ? श्रुति तो परम प्रकाश है, जिसकी ज्योति में मनुष्य प्रत्येक तत्त्व को याथातथ्य रूप में देख सकता है। इस ज्ञान के प्रकाश के विना मनुष्य का सम्पूर्ण परिश्रम वैसा ही होता है, जैसे किसी यात्री का अमावास्या की घोर अन्धकारमय रात्रि में घने वन में होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक स्थान में तथा प्रत्येक वार्ता और व्यवहार में अति करने अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन करने से हानि होती है। इसी प्रकार श्रुति का व्यसन होना भी हानि-प्रद है, अथवा बहुशास्त्र-अध्ययन से भी अनेक संशयों तथा वाद-विवाद द्वारा नास्तिकता का भय होता है। इसी में लगे रहने से अन्य उपयोगी निदिध्यासन आदि साधनों में प्रमाद हो सकता है। इस प्रमाद से बचाने के लिए ही श्रुति ने चेतावनी के रूप में निर्देश किया है कि बहुत शब्द रूपी शास्त्रों का अध्ययन न करे अर्थात् केवल शास्त्र के अध्ययन को ही परम लक्ष्य अथवा परम साधन न मान ले। परन्तु इन शास्त्र-वाक्यों का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि शास्त्र को सर्वथा तिलाञ्जलि दे दी जावे और विना विचार के अंधाधुन्ध केवल निदिध्यासन अथवा योग में लग जाए। क्योंकि शास्त्र का लक्ष्य तथा साधन के विषय में उचित निर्देश पाकर ही मनुष्य वास्तविक मनन तथा निदिध्यासन में प्रवृत्त हो सकता है। श्रुति—शास्त्रज्ञान—तथा निदिध्यासन रूपी योग दोनों का परस्पर का सम्बंध तथा क्रम उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् (४,५,६) से स्पष्ट ही है। दोनों का ऐसा ही संबंध है जैसे चक्षु तथा सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र का सम्बंध होता है। चक्षु जैसे

अपने आप विना सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को देखने में असमर्थ होती है और सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्र तो चक्षु न होने पर सर्वथा निरर्थक होता ही है उस से कुछ भी दीख नहीं सकता। इसी प्रकार शास्त्र तो चक्षु रूपी अपूर्व प्रमाण है और निदिध्यासन उसका सहकारी साधनरूपी यन्त्र है। दोनों का सहयोग होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति होती है। स्वतन्त्ररूप से पृथक् २ दोनों निष्फल होते हैं। केवल श्रुति के आधार पर अपरोक्षानुभूति यदि न भी हो, तो भी परोक्ष ज्ञान तो संभव है। परन्तु श्रुति की सहायता के विना स्वतन्त्र योग परमार्थलक्ष्य में विशेष उपयोगी नहीं है। जैसे भौतिक विज्ञान में सिद्धान्त-शिक्षा तथा प्रयोग साथ साथ चलते हैं, केवल सिद्धान्त प्रयोग के विना पङ्गु है और प्रयोग सिद्धान्त के विना चक्षुहीन है। इसी प्रकार स्वाध्याय तथा योग दोनों का साथ साथ प्रयोग आवश्यक है।

६. *योगदर्शन के भाष्य की सम्मति*

इसी रहस्य की दृष्टि से योग दर्शन (१,२८) सूत्र की व्याख्या में व्यास भगवान लिखते हैंः—"स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात् स्वाध्यायमामनेत्" अर्थात् योग तथा स्वाध्याय का पृथक् पृथक् अनुष्ठान न करे। स्वाध्याय के पश्चात् अर्थात् अध्यात्म-तत्त्व के श्रवण, मनन के अनन्तर शास्त्रोक्त ज्ञान के असंदिग्ध ज्ञान के लिए योग में स्थित हो। जब मनुष्यशास्त्र का श्रवण और मनन कर लेता है, उसके अनन्तर ही उसे तार्किक ज्ञान की अपूर्णता भासती है, और योग का महत्त्व सूझता है तथा सच्चे जिज्ञासु में योग की अदम्य जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त-सम्बन्धी शास्त्र के अध्ययन के पश्चात् ही प्रयोगात्मक ध्येय का पता चलता है, उसी प्रकार शास्त्र द्वारा योग के स्वरूप तथा लक्ष्य का ज्ञान होने के पश्चात् योगरूपी साधन

के करने वाला किसी वास्तविक लक्ष्य को सामने रख कर उसमें प्रवृत्त हो सकता है। इन प्रयोजनों को दृष्टि में रख कर ही "स्वाध्यायाद् योगमासीत" ये पंक्तियां कही गयी हैं, कि योग से प्रत्यक्ष अनुभूति हुए विना केवल शास्त्रज्ञान अनादि चित् जड़ ग्रन्थि को भेदन नहीं कर सकता। इसी वचन के दूसरे भाग में यह कहा गया है कि योग से निवृत्त होने पर स्वाध्याय करे, शास्त्र का श्रवण तथा मनन करे। जिस प्रकार स्वाध्याय कर लेने पर ही उसकी अपूर्णता खटकती है, इसी प्रकार स्वतन्त्र योग भी कई प्रकार की अनुभूतियों से कई संशय उत्पन्न कर देता है, जिनकी निवृत्ति के लिए अनुभवी महात्मा तथा शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत होती है। सच्चा विचारवान जिज्ञासु अपने अनुभव को शास्त्र से मिलान किये विना सन्तुष्ट नहीं होता। इसलिए उसे योग तथा स्वाध्याय की पृथक् पृथक् अपूर्णता स्वतः ही खटकती है। इसी रहस्य को दृष्टि में रख कर उपर्युक्त वचन कहा गया है। और बृहदारण्यक उपनिषद् के (४,५,६) में एक ही वाक्य में इन दोनों साधनों के समुच्चय का निर्देश किया गया है।

७. *दर्शन के योग विरोधी वाक्यों का तात्पर्य*

योगशास्त्र में भिन्न भिन्न सूत्रों के भाष्यों में उपर्युक्त स्वाध्याय तथा योग-सम्बन्धी वचन आते हैं, जिनमें से एक में तो यह कहा गया है कि योग से ही योग जाना जाता है और दूसरे में यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वाध्याय से योग और योग के पश्चात् स्वाध्याय करे। स्थूल दृष्टि से देखने पर इन दो वाक्यों में विरोध प्रतीत होता है। परन्तु एक ही शास्त्र में आये दो वचनों में विरोध कदापि नहीं हो सकता। विचार करने पर तो यही प्रतीत होता है कि जो भाव पहले दर्शाया गया है, वही भाव इनका युक्तिसंगत हो सकता है। 'योग से योग जाना जाता है' यह वाक्य योग तथा स्वाध्याय के परस्पर सहयोग के खण्डन

करने के लिए नहीं है। इसका भाव तो यह है कि शास्त्र तो योगभूमियों के स्वरूप का निर्णय करता है, परन्तु जिज्ञासु किस भूमि के योग्य है, इस योग्यता का निर्णय तो उस के पूर्वकृत योगाभ्यास के तथा सामर्थ्य के बल पर ही हो सकता है। शास्त्र स्वतन्त्रतया किसी की योग्यता का निर्णायक नहीं हो सकता।

८. *योगशास्त्र में अश्रद्धा का कटु फल*

वैदिक शास्त्र में श्रद्धा तथा स्वाध्याय-रहित मार्ग का अनुसरण करने में कितना महान् अनर्थ हो सकता है, यह योगदर्शन के (१,१६;२०) सूत्रों के व्यासभाष्य तथा तत्त्व-वैशारदी टीका में वायुपुराण के उद्धृत वाक्यों के मनन से स्पष्ट प्रतीत होता है "यह असम्प्रज्ञात रूप परम योग के दो भेदों का वर्णन है। श्रुति में श्रद्धा रखने वाले, श्रुति के श्रवण और मनन के द्वारा परम लक्ष्य की ओर उसके साधनों की शिक्षा के अनन्तर जो जिज्ञासु परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए यत्न करते हैं, बीसवें सूत्र में उनके मार्ग का निर्देश किया गया है, कि वे किस प्रकार क्रम से सच्ची विवेक-ख्याति द्वारा गुण अधिकार समाप्त हो जाने पर, असम्प्रज्ञात-स्वरूप स्थिति से परम लक्ष्य की सिद्धि में सफल-मनोरथ होते हैं। वे संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और फिर संसार में नहीं आते। परन्तु जो लोग श्रुति-मार्ग का अनुसरण न कर, अन्य मार्गों का अवलम्बन करते हुए असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ करते हैं, उनकी वह असम्प्रज्ञात समाधि स्वरूपस्थिति नहीं होती, वह एक प्रकार की लय अवस्था होती है, जिसको वेदान्त के ग्रन्थों में विघ्न कहा गया है।"

असम्प्रज्ञात रूप योग के दो भेद हैं—(१) उपाय-प्रत्यय तथा (२) भव-प्रत्यय। भव-प्रत्यय का वर्णन निम्नप्रकार से है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। योग १,१९

"विदेह और प्रकृतिलीन अभ्यासियों का भव—संसार अनात्म पदार्थ—के ध्यान अथवा अनात्म में आत्मबुद्धियुक्त भव-प्रत्यय होता है।

व्यास भाष्य—विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कार-मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधि-कारवशाच्चित्तमिति ॥

विदेह नाम वाले देवताओं की असंप्रज्ञात स्थिति का कारण भव (अनात्म पदार्थों की उपासना) कारण होता है। पांच भूत तथा उनकी ग्राहक इन्द्रियों में आत्म-बुद्धि रखने वाले उन उन भूत आदि की उपासना द्वारा, जिनके अन्तःकरण उनकी वासना से युक्त हो गये हैं, वे शरीर समाप्ति के अनन्तर इष्ट भूत और इन्द्रियों में लीन हो जाते हैं, उनका मन संस्कार मात्र शेष रहता है। वे भौतिक शरीर के अभाव के कारण विदेह कहलाते हैं। वे विदेह केवल स्वसंस्कार से युक्त चित्त के द्वारा कैवल्य पद के समान अवस्था को अनुभव करते हैं (वृत्ति रहित होने से कैवल्य के साथ समानता है, अधिकार—भोग-मोक्षरूप—सहित संस्कार शेष से भिन्नता है)। (उपासना रूप प्रयत्न के उपर्युक्त फल का अवधि समाप्त होने पर) वे निज संस्कार विपाक रूप उपर्युक्त स्थिति से च्युत होकर पुनः संसार में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति लय (जो अभ्यासी वैदिक श्रद्धा शून्य, पञ्च सूक्ष्म भूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृतिरूप प्रकृतियों में आत्म-भावना के कारण, उन उन की उपासना द्वारा, देह-पात के अनन्तर उन प्रकृतियों में लीन हो जाते है) अपने (अधिकार शेष) चित्त के प्रकृति में लीन होने पर कैवल्य के समान दशा को

अनुभव करते हैं, जब तक कि भोग-मोक्षरूप चित्त के अधिकार—कर्तव्य—शेष के कारण पुनः इस संसार में नहीं लौटते अर्थात् उत्पन्न नहीं होते।

वायु पुराण के निम्नलिखित श्लोक व्यास-भाष्य की वाचस्पति कृत तत्त्व विशारदी टीका में उद्धृत किये गये हैं।

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।

इन्द्रियों की आत्मभाव से उपासना करने वाले उपर्युक्त कैवल्य के समान दशा में दस मन्वन्तर कालपर्यन्त निवास करते हैं, और पञ्चभूतों के उपासक सौ मन्वन्तर, अभिमानिक (अहंकार प्रकृति के उपासक) हजार मन्वन्तर और बुद्धि के उपासक दस हजार मन्वन्तर तक उपर्युक्त क्लेश रहित अवस्था में रहते हैं। परन्तु निर्गुण पुरुष में यथार्थ आत्मबुद्धि वालों को ही यथार्थ कैवल्य की उपलब्धि होने से वे कालातीत हो जाते हैं अर्थात् पुनः संसार में नहीं लौटते।

उपायप्रत्यय का वर्णन निम्न प्रकार से है:—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ योग १,२०.

विदेह प्रकृतिलयों से भिन्न असंप्रज्ञात योगाभ्यासियों को स्थिति (समाधि) लाभ होने के ये कारण हैं:—

१ श्रद्धा, २ वीर्य, ३ स्मृति, ४ समाधि, ५ प्रज्ञान।

व्यास भाष्य—उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

उपाय प्रत्यय तो केवल योगियों को होता है। (१) श्रद्धा (आगम, अनुमान, आचार्य उपदेश द्वारा प्राप्त आत्मतत्त्व के विषय में) चित्त का संप्रसाद रुचि—तीव्र इच्छा—का नाम है, क्योंकि वही माता के समान पुत्र का कल्याण करने वाली योगी की रक्षा करती है, और पथभ्रष्ट नहीं होने देती। (२) ऐसे श्रद्धालु आत्म-अनात्म विवेकी को ही (परमलक्ष्य सिद्धि के लिए अदम्य) उत्साह उत्पन्न होता है। (३) ऐसे उत्साह (वीर्य) से सम्पन्न मनुष्य की (अपने लक्ष्य की) स्मृति सदा बनी रहती है। (४) ऐसी स्मृति से चित्त का समाधान सहज (निरायास) ही लाभ होता है। (५) समाहितचित्त को ही यथार्थप्रज्ञा—समाधि-जन्य विवेक—उत्पन्न होता है, जिससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है। प्रत्यक्ष सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से उसके विषय के यथार्थ बोधद्वारा उससे वैराग्य होता है। फिर असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।

उपर्युक्त पांच उपायप्रयुक्त योगियों (पातंजल अभिमत वैदिक योगियों) को असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। उपर्युक्त पांच कारणों में से प्रत्येक पूर्व पूर्व का कार्य है:—

सांख्यदर्शन सांख्यकारिका तथा ईशोपनिषद् में भी विदेह तथा प्रकृतिलयों का वर्णन मिलता है।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । सांख्य ३,५४

महदादि सांख्यप्रोक्त २३ प्राकृतिक तत्त्वों से वैराग्य हो जाने पर भी जब शेष चौबीसवें जड़, अनात्ममूल प्रकृतिरूप तत्त्व में आत्म-भावना (प्रकृतिपुरुष-विवेक अभाव के कारण) बनी रहती है, और उसकी आत्मभाव से उपासना की जाती है, तो प्रकृति-उपासना के फल रूप से ऐसा साधक देह-पात के अनन्तर उपास्य प्रकृति में लीन हो जाता है। उसके जन्ममरण रूप संसार-चक्र की निवृत्ति होकर कृतकृत्यता नहीं होती। क्योंकि जल में मग्न पुरुष के समान (एक लक्ष वर्ष के पश्चात्) पुनः उसका उत्थान होता है, अर्थात् इस व्यक्त कार्यरूप जगत् में प्रवेश होता है। प्रकृति-उपासना के कारण महान् सांसारिक ऐश्वय प्राप्त होने पर भी योग, क्षेम आदि अनन्त सांसारिक दोषों से उसका छुटकारा नहीं होता।

दैवादिप्रभेदाः । सांख्य ३,४६

दैव आदि व्यष्टि सृष्टि के अवान्तर भेद हैं:—(१) दैवसर्ग आठ प्रकार का है जैसे—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गांधर्व, यात्त, रात्तस, पैशाच। (२) तिर्यग् योनि के पांच प्रकार हैं—पशु, पक्षि, मृग, सर्प के समान चलने वाले, तथा स्थावर (वृत्त) (३) मानुष सर्ग एक प्रकार का है। विराट् से उपर्युक्त भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥ सां० ३,४७

सर्वोत्कृष्ट दैवसृष्टि आदि सर्व विवेक-ख्यातिरूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि पर्यन्त है। अर्थात् विवेक-ख्याति के अभाव से सब दैवादि संसार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इनको मोक्षरूप विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त व्यष्टि

सृष्टि भी विराट् सृष्टि के समान विवेक-ख्यातिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए ही होती है।

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्यात्तद्विपर्यासः ॥ सांख्य कारिका ४५

पुरुषज्ञानरहित वैराग्यमात्र से प्रकृति के कार्यों—महत्, अहंकार, भूत और इन्द्रियों में लय अवस्था को प्राप्त होता है। जिन जिन की मनुष्य ने आत्मबुद्धि से उपासना की है। राजस राग से दुःख स्वरूप संसार को प्राप्त होता है। ऐश्वर्य (उपासना द्वारा प्राप्त विभूति) के कारण प्रथम (प्रकृतिलय) की इच्छा का विघात नहीं होता, जो चाहता है वही कर सकता है। दूसरे (राजस राग युक्त) की इच्छा का विघात होता है अर्थात् अनैश्वर्य के कारण उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥ ईश १२

जो पुरुष असम्भूति—प्रकृति—कारण—अविद्या—की उपासना करते हैं, वे उपास्य के अनुरूप अज्ञानात्मक तम (अंधकार) में प्रवेश करते हैं। और जो साधक सम्भूति—कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ—की उपासना करते हैं, वे पूर्व से भी अधिक तम में प्रवेश करते हैं।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ ईश १३

अब १४ वें मंत्र में वर्णित समुच्चय का कारण जतलाने के लिए उपर्युक्त प्रत्येक उपासना में फलभेद का वर्णन करते हैं। कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमा आदि ऐश्वर्य रूप है और प्रकृति (असम्भूति) की उपासना का फल पूर्वोक्त से भिन्न

प्रकृति लय रूप है। यह हमने विद्वान् तथा धैर्यवान् महापुरुषों से सुना है। जो इन उपासनाओं के फलभेद का हमें उपदेश करते हैं।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥ ईश १४

इसलिए उपर्युक्त संभूति तथा असंभूति की उपासना का समुच्चय संभव है, क्योंकि यह एक ही पुरुष के इष्ट तथा इष्ट-साधन बन सकते हैं, अर्थात् इसलिए जो साधक कार्यब्रह्म की अभेद उपासना तथा प्रकृति की उपासना एक साथ करते हैं, वे अनैश्वर्य तथा अधर्म कामादि रूप मृत्यु को लांघ कर अणिमादि की सिद्धि उपासना के बल से प्राप्त करते हैं और प्रकृति की उपासना से प्रकृति-लयलक्षण वाले सापेक्ष अमृत को प्राप्त करते हैं। अर्थात् कार्य-कारण ब्रह्म की उपासना से संसार-गति ही प्राप्त होती है; यद्यपि वह बहुत ऊंची स्थिति ही हो। संसार-चक्र की निवृत्ति कार्य-कारण अतीत निर्गुण ब्रह्म की उपासना से ही हो सकती है।

विदेह तथा प्रकृतिलय की अवस्थाएं महान् परिश्रम करके योगद्वारा प्राप्त होती हैं, क्योंकि उन अवस्थाओं की अवस्थिति के काल में मोक्ष के समान ही त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होती है, इसलिये इन अवस्थाओं में मोक्ष की भ्रान्ति होती है। ये अवस्थाएं दिव्यलोक के अधिपतियों (ब्रह्मा, प्रजापति, देवेन्द्र आदि) से भी अत्यन्त विलक्षण सुखदायी होती हैं। इन अवस्थाओं में उन के वर्तमान रहते हुए दुःख लेशमात्र भी नहीं होता। जब जिज्ञासु श्रुति में आस्तिक भाव नहीं रखता और श्रुति प्रतिपादित, परमध्येय ब्रह्म और उसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की साधना तथा श्रुति के अनुकूल योग का अनुसरण न

करके केवल अपनी विचित्र मति के आधार पर स्वतन्त्रता पूर्वक किसी योगविधि का अनुसरण करता है, तथा भौतिक पदार्थों में ही चित्त-वृत्ति का निरोध करता है, तब इस प्रकार के साधनों से वह विदेह तथा प्रकृतिलय दशाओं को प्राप्त कर लेता है, और इन्हीं स्थितियों से कृतकृत्यता मान लेता है। अतः परमध्येय को नहीं प्राप्त करता। वह इन स्थितियों में दिव्य गतियों के समान ही सहस्र मन्वन्तर वर्षों तक अर्थात् अनेक वर्षों तक त्रिविध दुःख से रहित स्थिति का अनुभव करता है और फिर इस दुःखमय संसार में लौट आता है। जब इस निरुद्ध स्थिति से ऐसे जीवों का उत्थान होता है, तब वे अज्ञान की विद्यमानता से पुनः संसारगति को प्राप्त करते हैं। यह अज्ञान आत्म-साक्षात्कार से ही नष्ट हो सकता है, जो उनको नहीं हुआ। उनकी भूत, तन्मात्रा आदि में ही आत्म-भावना है। श्रुति से असम्मत इस योग के फल का यह कितना भयानक चित्र है। महान् सिद्ध अर्थात् शक्ति सम्पन्न योगियों का भी यदि श्रुति के श्रवण आदि के तिरस्कार से इतना महान् अनर्थ हो सकता है, तो अन्य सामान्य अनासक्ति आदिकों को, अथवा शास्त्र, श्रद्धा तथा स्वाध्याय हीन सामान्य योग मात्र को ही सर्वस्व समझने वाले और सामान्य चमत्कारों या शान्त स्थिति में ही अपने आप को कृतकृत्य समझने वालों की भ्रान्त धारणाओं का दुष्परिणाम—संसार-गति—होने में सन्देह ही क्या हो सकता है। अतः शास्त्र में अनन्य श्रद्धा रख कर उसका श्रवण (स्वाध्याय) ब्रह्मविद्या का प्रथम अनिवार्य साधन है। इसीलिए योगसूत्र (१,२०) में वर्णित वेदोक्त योग के साधनों में श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया गया है। क्योंकि, वही श्रद्धा वीर्य (बल-धैर्य), स्मृति, समाधि-प्रज्ञादि तथा वेदोक्त असम्प्रज्ञातरूपी योग के उपायों की जननी है। अतः श्रद्धारूपी जननी के अभाव में अन्य

उपायों तथा फलों का होना अत्यन्त असंभव है। इस लिये विचारयुक्त साधकों को योग के साथ साथ स्वाध्याय को भी उपयुक्त स्थान देना चाहिए।

९. योग के स्वरूप अथवा लक्ष्य सम्बन्धी भ्रान्ति

श्रुति और उसको अनुसरण करने वाला योगदर्शन लक्ष्य तथा साधन को याथातथ्य प्रकार से निरूपण करता है। योग के स्वरूप, साधना के भेद, अनुभूतियों का कार्य-क्षेत्र तथा परमलक्ष्य का श्रुति के संकेत के आधार पर भली प्रकार निरीक्षण किये विना योग में प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती। शारीरिक तथा मानसिक अनेक विघ्न योग में उपस्थित हो सकते हैं। उनको पहले से ही सावधानी से रोका जा सकता है और उनके उपस्थित होने पर उन्हें विघ्नरूप में पहचान कर उनका निवारण भी किया जा सकता है।

किसी डाक्टर महोदय ने योग पर एक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ में योग का लक्षण इस प्रकार किया है:—कि श्वास, प्रश्वास तथा हृदय के स्पन्दन का निरोध करना योग है। इसी लक्षण के तथा स्वरूप के आधार पर अन्य कई योग-साधनों का उसने निरूपण किया है। उस ग्रन्थ में लिखा है कि योगी जन दूध तथा फल का अल्प आहार करते हैं, एकान्त गुफा में रहते हैं, और मौन धारण करते हैं। इस प्रकार का आचरण वे लोग इसलिए करते हैं कि CO_2 कम उत्पन्न हो, क्योंकि CO_2 कम पैदा होने से योगी को हृदय-गति के रोकने के कार्यों में सुविधा होती है। CO_2 वह कार्बोनिक एसिडगैस है, जो प्रति श्वास के रूप में मुख और नासिका से बाहर निकलती है। इस CO_2 गैस का तथा श्वास और प्रश्वास का इस प्रकार का वर्णन किसी प्राचीन योगग्रन्थ में नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में

भी यह उल्लेख कहीं नहीं है कि गुफा आदि में इसीलिए निवास किया जाता है। आज-कल योग के चमत्कार दिखाने वाले ऐसे योगी अवश्य मिलते हैं, जो जनता को हृदय तथा फुप्फुस की गति बन्द करके दिखाते हैं। डाक्टर ऐसे अवसर पर परीक्षा भी करते हैं। इससे सामान्य जनता तथा डाक्टरों को यह भ्रान्ति हो सकती है कि योग का लक्ष्य तथा कार्य श्वास, प्रश्वास तथा नाड़ी की गति को रोकना है। इस प्रकार वे योगियों के आहार, निवास आदि के सम्बन्ध में यह धारणा कर सकते हैं कि योगी इस प्रकार की क्रियाएं $C\frac{o}{2}$ कम करने के लिए करते हैं, क्योंकि ऐसे योगियों का मुख्य चमत्कार श्वास तथा प्रश्वास की गति को रोकना ही होता है। अब कई महानुभावों ने राज-योग के ग्रन्थों की व्याख्या में भी इसी शैली का प्रयोग किया है। डाक्टर की योग की उपर्युक्त परिभाषा के साथ $C\frac{o}{2}$ की बात का कुछ युक्ति-संगत मेल भी हो सकता है, परन्तु राजयोग में, जहां योग की परिभाषा ही भिन्न है और योग का लक्ष्य चित्त-वृत्तियों का निरोध या जीवात्मा का परमात्मा के साथ मेल आदि है, इस $C\frac{o}{2}$ के भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त का कैसे सामञ्जस्य हो सकता है, यह बात समझ में नहीं आ सकती। इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति द्वारा निर्देश किये गये योग के स्वरूप तथा लक्ष्य को यदि सर्वदा सम्मुख न रखा जावे, तो इस सम्बन्ध में भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है और इस भ्रान्ति के कारण साधनादि में भी भ्रान्ति अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार की अनेक भ्रान्तियों के कारण साधक का मनोरथ सफल नहीं होता।

१०. योग की अनुभूतियों में भ्रान्ति

योग अत्यन्त रहस्यमय है। सामान्य बुद्धि से इस कार्य-क्षेत्र

का निर्णय करना असंभव है। जिस प्रकार समुद्र में गोता लगाने पर रेत, पत्थर, मोती, और भिन्न २ प्रकार के हीरे आदि अनेक पदार्थ हस्तगत हो सकते हैं। यदि इन पदार्थों के भेद का ज्ञान न हो, तो मनुष्य जो कुछ भी उसे मिल जाए, उसी को हीरा समझने की भूल कर सकता है अथवा हीरे को पत्थर समझ कर फैंक भी सकता है। ऐसी भूल तथा मूर्खता के कारण मनुष्य जीवन की बाज़ी लगा कर भी फल से वञ्चित रह जाता है। ठीक इसी प्रकार योगरूपी क्षेत्र महान् रत्नों से भरा हुआ समुद्र है। इसका अनुष्ठान करने पर अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। जो अनर्थकारी, निरर्थक या मूल्यवान् भी होते हैं। जो मूल्यवान् होते हैं, उन में भी मूल्य का तारतम्य होता है। इनके भेद को न जानता हुआ साधक भूल कर सकता है। वह निरर्थक को मूल्यवान्, मूल्यवान् को निरर्थक या कम मूल्य वाले को अधिक मूल्य वाला समझ कर और समझ के अनुसार आचरण करता हुआ विफलमनोरथ हो जाता है। योगसिद्धि की पहिचान तथा उसकी प्राप्ति के लिए शास्त्रज्ञान तथा धैर्य की बहुत आवश्यकता है। जब चित्त-वृत्तियों का सामान्य निरोध भी होता है, तो भी उस का कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है। पहले तो साधक के अपने प्राचीन संस्कार ही वृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं। वह इनको ही सूक्ष्म जगत् के यौगिक अनुभव मान लेता है तथा इस सामान्य तुच्छ रेत को ही योग की सिद्धि मान बैठता है।

जैसे इस जगत् में अनेक प्रकार के भले बुरे मनुष्य हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् में भी असुर तथा देव शक्तियां हैं। प्रारंभिक जिज्ञासु के लिए इनमें भेद करना कठिन होता है। उसे जो भी अनुभव होता है, वह उसे ही अपने लोभ, मोह या अभिमान के वश हो कर दिव्य, तथ्य और परमोपयोगी अनुभव मान लेता है। उसके अपने प्राचीन दबे हुए संस्कार अपनी पूर्ति के लिए

अनेक रूप धारण कर लेते हैं और आवेश के रूप में पूर्ति चाहते हैं, जिसका मनुष्य को ठीक बोध नहीं होता। किसी ऐसे अनुभव के दृश्य—शब्दादि—को परम सत्य मान लेना बड़ी भूल है। जिस परम सत्य की उपलब्धि के लिए "अनेकजन्मसंसिद्धिः" कहा गया है, उसे थोड़े ही दिनों में हस्तगत कर लेने की दुराशा केवल अभिमान तथा अज्ञान के कारण ही हो सकती है। बहुधा मनुष्य अधीरता के कारण उपयुक्त परीक्षा नहीं करता। दस बातों में यदि एक सच्ची और नौ झूठी निकलती हैं, तो उन नौ की उपेक्षा करके एक का अधिक मूल्य लगाता है और उसके आधार पर दिव्य सन्देश की घोषणा कर देता है। एक आध भविष्य की वार्ता तो अनुमान से भी ठीक निकल सकती है। इस एक आध से वास्तविक सिद्धि की क्या सम्भावना हो सकती है, परन्तु मोह तथा अभिमान इन सन्देशों तथा वाणियों में असल नकल की तुलना नहीं करने देते। अपने ऐसे मनोभावों और आकांक्षाओं को ही दिव्य सन्देश तथा दर्शनों का नाम दे दिया जाता है। जो देवताओं के या अन्य दिव्य दर्शन कहे जाते हैं, सम्भवतः वे भी संस्कारवश मिथ्या या आंशिकरूप से सत्य हो, सकते हैं। यदि उनके सत्य या मिथ्या होने का निश्चय करना हो तो उनके प्रभाव आदि की विवेचना करनी आवश्यक होती है। परन्तु प्रारंभिक साधक में न तो इस विवेचना की योग्यता होती है और न ही उसे ऐसा विश्लेषण करना प्रिय लगता है। वह तो अपने वृथा अभिमान के कारण, जो कुछ भी उसके सामने आता है, उस पर भूखे के समान टूट पड़ता है। ऐसी अवस्था में शुद्ध-अशुद्ध तथा सत्य-असत्य के विवेक का धैर्य ही दुर्लभ होता है।

कई साधक अल्पकाल की साधना में ही ऐसा मानने लगते हैं कि उन्हें वास्तविक दिव्य तथा सगुण दर्शन हो रहे हैं, परन्तु उनके जीवन के व्यवहार तथा मानसिक सन्तोष और शान्ति

आदि में कुछ अन्तर नहीं आता। क्या शास्त्र में भगवद्दर्शन का यही फल वर्णन किया गया है कि भगवद्दर्शन भी हो जाए और जीवन भी वैसा का वैसा अशान्त तथा विषयासक्त बना रहे। भगवान् के किसी रूप का दर्शन भी जीवन को आनन्दमय बना देता है। उसकी एक झलक भी एक बार में ही संसार-दर्शन को परिवर्तित कर देती है। भगवान् के दर्शन के पश्चात् भी वही राग-द्वेष तथा लोभ आदि से युक्त व्यवहार कैसे रह सकता है? ऐसे तामसिक व्यवहार तो दर्शनाधिकारी अभ्यासी के दर्शन से पूर्व ही निवृत्त हो जाते हैं। दर्शन के पश्चात् इनके ठहरने की तो बात ही क्या है? ये दिव्य दर्शन सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बना देते हैं। कोई भाग्यवान् ऐसे दर्शन पाकर विस्मित होता है कि उसके लिए संसार कैसे परिवर्तित हो गया। उसकी काया पलट हो जाती है। मनुष्य चित्र में भी तो भगवान् के सगुण रूप के दर्शन करता है, इस दर्शन से जीवन में क्या विशेष परिवर्तन होता है। यह चित्र लौकिक है, दिव्य नहीं, अतः उसका कुछ प्रभाव नहीं होता। ऐसे ही मनोभावना से कल्पित दर्शन वास्तविक दिव्य दर्शन से भिन्न है। इसका प्रभाव मनुष्य के मन तथा जीवन पर कुछ नहीं होता। परन्तु इस प्रकार के भेद तथा मीमांसा करने का जिज्ञासु के पास विवेक नहीं होता और न ऐसा करना उसको अच्छा लगता है, क्योंकि वह तो झट उसको सत्य मान कर योगोपाधि ग्रहण करने को उत्सुक होता है। यह उत्सुकता उसकी विवेचन की शक्ति तथा सत्यासत्य के निर्णय के सामर्थ्य को हर लेती है। इस प्रकार कुछ योगमार्गाभिमानी लोग बैठने पर ही झट दिव्य प्रकाश आदि करना कराना चाहते हैं। इन बातों के सिवाय अपनी तथा दूसरों की वञ्चना के अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे ही योग की अनुभूतियां अनेक प्रकार की होती हैं। योग

से ज्ञान, आवेश, शक्ति आदि भिन्न २ प्रकार की होने वाली अनुभूतियों का विस्तृत विवेचन करने का यहां न तो अवकाश है और न आवश्यकता। इनके तथ्यातथ्य निर्णय करने के लिए शास्त्र-बोध ही सहायक है। यह सत्य है कि ऐसे गुह्य अध्यात्म-शास्त्र का रहस्य भी किसी अनुभवी के द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। अन्यथा जिज्ञासु कई यथार्थ वर्णनों को कल्पना मात्र कह देता है अथवा किसी कल्पना (वर्णन) का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसका केवल शब्द के पाण्डित्य से निर्णय नहीं हो सकता। अनुभवी महात्मा तो अति दुर्लभ हैं ही, उनके महत्त्व का निरादर कौन कर सकता है, परन्तु श्रुति तथा ऋषिप्रणीत अध्यात्म-विद्यासम्बंधी ग्रन्थ भी रहस्यमय ब्रह्मविद्या के सच्चे अनुभवों से भरे हुए हैं। अतः शास्त्र में अनन्य श्रद्धा रख कर उन का सदुपयोग करना ही युक्ति-युक्त मार्ग है। जैसे भौतिक विज्ञान-क्षेत्र में उन्नति के लिए (१) प्राचीन विद्वानों के आविष्कारों सम्बंधी ग्रन्थ, (२) वर्तमान शिक्षक तथा यन्त्रों का प्रयोग और (३) अन्य प्रकार के प्रयत्न—ये तीन भिन्न २ साधन परस्पर सहायक हैं और उनके समुच्चय के प्रयोग से ही सफलता हो सकती है। इसी प्रकार अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में तो यह नियम और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि यह विद्या अति रहस्यमय है तथा श्रुति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परम-हितैषी ईश्वर का ज्ञान है और ऋषियों के अनुभव इसका अनुमोदन करते हैं। वर्तमान काल का साधारण योगाभ्यासी प्राचीन ऋषियों के समुच्चय अनुभव से अपने अनुभव की सामान्यतया कैसे तुलना कर सकता है ?

११. उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि वर्तमान काल में अध्यात्म विद्या के दो सहकारी तथा उपयोगी साधन श्रुति का

स्वाध्याय तथा योग पृथक् पृथक् हो गये हैं। अतः परमलक्ष्य की सिद्धि में बाधा उपस्थित हो रही है, जिससे श्रुति के सिद्धान्त के प्रति विमुखता बढ़ती जाती है। शास्त्र-परायण विद्वान् शास्त्राध्ययन तथा अध्यापन को ही ब्रह्मविद्या का एकमात्र, परम तथा पर्याप्त साधन मानते हैं। ब्रह्म को औपनिषद तत्त्व मानते हैं, (जो ठीक ही है, क्योंकि वह केवल उपनिषद् से ही गम्य है) इसलिए वे लोग योग, उपासना आदि को अज्ञानमूलक कह कर उनका तिरस्कार करते हैं और इन साधनों को उचित स्थान नहीं देते। दूसरा वर्ग योगमार्ग वालों का है, वे केवल योग से ही परमसिद्धि का होना मानते हैं। श्रुति के अध्ययन को विवाद, संशय, अश्रद्धा आदि का कारण मानते हैं और उसमें श्रम करने को वृथा तथा इन दूषणों को पैदा करने वाला मानते हुए श्रुति के अध्ययन को परमलक्ष्य में बाधक मानते हैं। ये दोनों वर्ग अनुग्रह के कारण श्रुति तथा विचार-युक्ति-सम्मत दोनों श्रेय साधनों के समुच्चय का अनुसरण नहीं करते, अतः विफल-मनोरथ होते हैं। इसलिए विचारशील जिज्ञासुओं को परमलक्ष्य की सिद्धि के लिए इन दोनों परमोपयोगी साधनों का उचित सदुपयोग करना चाहिए। शास्त्र-अध्ययन विना योग के पंगु है और योग विना शास्त्र-अध्ययन के अंधा है। इन दोनों का मेल ही एक दूसरे की अपूर्णता को दूर करके मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जा सकता है।

१२. *यम नियम*

योग की उपयोगिता तथा इसके सहकारी श्रुति, श्रद्धा, अध्ययन आदि का विवेचन हो चुका है। इसी बीच में योग के कतिपय विघ्नों का भी चेतावनी के लिए वर्णन किया है। असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद और उन में कौन सा हेय तथा कौन सा उपादेय है, इसका भी निरूपण हो चुका है। अब

योग-विषयक कई अन्य उपयोगी बातों का निरूपण किया जाता है।

समाधान प्रकरण में इस विषय का निरूपण हुआ है कि समाधियोग तथा उपनिषद् विद्या के अभ्यास का सच्चा अधिकारी वही है, जो एकाग्र भूमि—समाहितचित्त—वाला हो। विक्षिप्त चित्त वालों के लिए योग के साधन पाद में अन्य उपयोगी पांच बहिरंग साधन बताए गये हैं। इन पांच में से पहले दो—यम-नियमों—का निरूपण योगदर्शन में किया गया है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योग २,३०

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

योग २, ३२

इनका ही सार रूप से प्रजापति के प्रथम दो उपदेशों में वर्णन है, जिन पर आचरण कर लेने के पश्चात् ही जिज्ञासु को देवताओं के उपदेश इन्द्रिय-दमन अर्थात् वैराग्य और अभ्यास आदि का अधिकार प्राप्त होता है। समाधि के अभ्यास वाले के लिए यम-नियमों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है, और विक्षिप्त-चित्त वाले को इनका अनुष्ठान यत्न से करना पड़ता है। परन्तु इनके अनुष्ठान के विना किसी अध्यात्म-मार्गोपयोगी योग का अभ्यास नहीं हो सकता। हठयोग का भी कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता, जिसमें सब से पहले इनका उपदेश न हो। परन्तु आजकल के भोग-प्रधान युग में यम-नियम की ओर कम ध्यान दिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग में इनका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन है, परन्तु कठिन होने से ही इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनके विना प्राणायाम आदि सभी योग-साधन निरर्थक कुञ्जर-स्नान के समान होते हैं। तथा अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुस्साध्य रोगों और सर्व

साधारण में योगसम्बन्धी अश्रद्धा की वृद्धि का कारण बन सकते हैं। इसलिए यम-नियमों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। यम-नियम का पालन करके आभ्यन्तर शुद्धि की ओर हठयोग की षट्-क्रिया से घटशुद्धि की अपेक्षा अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यम-नियम अर्थात् खान-पान का संयम, तथा ब्रह्मचर्यादि के विना यह षट्-क्रिया भी दुःसाध्य रोग उत्पन्न कर देती है। इन यम-नियमों का सामान्य निरूपण प्रजापति के उपदेश तथा कर्म प्रकरण+ में हो चुका है। अतः यहां पर इनकी उपयोगिता पर विशेष विचार नहीं किया जाता। इतना ही पर्याप्त है।

१३. हठयोग, और षट्-क्रिया, प्राणायाम

आसनादि का मुख्य लाभ आध्यात्मिक है, शारीरिक लाभ गौण है।

आसनों तथा षट्-क्रियाओं का विधान हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों में किया गया है। इनका उद्देश्य आध्यात्मिक होता है, केवल शरीर की नीरोगता के सम्बन्ध में चमत्कारी प्रभाव के कारण ही इनका उल्लेख नहीं है। यद्यपि दुःसाध्य रोगों का निवारण भी इनसे हो सकता है, परन्तु आज-कल केवल इनकी शारीरिक उपयोगिता की दृष्टि से अनेक ग्रन्थ यौगिक चिकित्सा पर लिखे गये हैं, जिनमें आसनों आदि का सविस्तर निरूपण होता है। ऐसे कई योग आश्रमों की स्थापना हुई है, जिनमें विशेषतया केवल शारीरिक उपयोगिता की दृष्टि से इनकी ही शिक्षा होती है। इससे सामान्य जनता को यह भ्रान्ति होती है कि यह आसनादि ही योग हैं और इनका लक्ष्य केवल शारी-

---

+ प्रथम परिच्छेद पृ. २.

रिक नीरोगता आदि ऐहिक लाभ हैं, यह बात भी सत्य है कि इन आसनादिकों में ये सब ऐहिक लाभ—शारीरिक नीरोगता आदि—प्राप्त करने के गुण हैं, और जिन की दृष्टि केवल ऐहिक लाभ पर है, वे भी इनकी ओर इसीलिए आकृष्ट होते हैं। शारीरिक नीरोगता की आध्यात्मिक मार्ग में गौण रूप से उपयोगिता भी है, क्योंकि शारीरिक नीरोगता तथा उपयुक्त सामर्थ्य के विना कोई पुण्य-पापरूपी कर्म नहीं हो सकते। "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" निश्चित रूप से शरीर धर्म का सर्व प्रथम साधन है। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है, क्योंकि हठयोगादि ग्रन्थ भी अध्यात्मविद्या का निरूपण करते हैं। ये वैदिक ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें भी इन क्रियाओं का उल्लेख मुख्यतया आध्यात्मिक प्रभाव की दृष्टि से किया गया है। हठयोगप्रदीपिका में सिद्धासन का लाभ इस प्रकार वर्णित है:—

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेवसदाभ्यसेत् ।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ १, ३९
आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम् ।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ १, ४०
उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे बद्धे सिद्धासने सति ॥ १, ४१
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ १, ४२

अर्थात् बहत्तर हज़ार (७२०००) नाडियों, जिनका वर्णन प्रश्नोपनिषद् (३,६) तथा कठोपनिषद् (६,१६) में पाया जाता है, के मल को शोधन करना तथा बारह वर्ष तक इस आसन का अन्य अंगों सहित अनुष्ठान करने से उन्मनी समाधि की अवस्था की सिद्धि आदि आध्यात्मिक लाभों का यहां उल्लेख है।

इन आसनों का मुख्य प्रयोजन यह आध्यात्मिक लाभ ही है। इसी प्रकार षट्-क्रिया आदि का उपयोग भी इसी दृष्टि से किया गया है (हठयोग प्रदीपिका २,४)। इसका तात्पर्य यह है कि षट-क्रिया आदि का निरूपण केवल शारीरिक आरोग्य के सम्पादन के लिए नहीं है, किन्तु शारीरिक नीरोगता गौण है और उन्मनी अवस्था की प्राप्ति, मध्य-मार्ग-प्रवेश तथा कुण्डलिनी के जागरण में सहायक होना इन सब साधनों के मुख्योद्देश्य हैं। यह अध्यात्म दृष्टि-कोण है।

१४. निपुण अनुभवी आचार्य की आवश्यकता

उपर्युक्त षट्-क्रिया आसन आदि का यहां पर विस्तार से निरूपण करना अभीष्ट नहीं है। विस्तृत निरूपण के पश्चात् भी इसके अनुष्ठान के लिए किसी जानकार की सहायता की आवश्यकता रहती है। केवल किसी ग्रन्थ के वर्णन के आधार पर इन आसन, षट्-क्रिया, प्राणायाम आदि को कोई विधि के अनुसार नहीं कर सकता। ऐसा करने पर अनेक भयानक प्राण-नाशक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः विना किसी दक्ष, निपुण गुरु के इस मार्ग में प्रवेश कदापि नहीं करना चाहिए। अन्यथा "पीछे पछताये क्या होत है, जब चिड़ियां चुग गयीं खेत" वाली उक्ति चरितार्थ होगी। कहा भी है:—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥

हठयोग प्रदीपिका २,१६

भली प्रकार किये प्राणायाम आदि साधनों से सब रोगों का नाश होता है और अयुक्त ढंग से किये गये ये योग के अभ्यास सब रोगों को उत्पन्न करते हैं।

१५. हठयोगादि साधनों की उपयोगिता तथा मर्यादा

यहां पर हमारा उद्देश्य इन साधनों की मर्यादा, अवधि तथा उपयोगिता पर विचार करना है, क्योंकि उचित मर्यादा ही सर्वत्र दुर्लभ है। एक वर्ग ऐसा दीखता है, जो इन क्रियाओं तथा इनके शारीरिक लाभ को ही योग मान कर अपनी संपूर्ण आयु इन्हीं के अभ्यास में खपा देता है और परमलक्ष्य से कोरा रह जाता है। दूसरा वर्ग वह है, जो इन साधनों को योग-सिद्धि के लिए परमोपयोगी तथा अनिवार्य मानता है। वह यम-नियमादि द्वारा भीतरी शुद्धि को भी इन साधनों की अपेक्षा बहुत महत्त्व नहीं देता। इस प्रकार इन साधनों का अति प्रयोग हो जाता है और काल, अवस्था आदि के विचार के विना इन को अनिवार्य मान लिया जाता है। इनको अध्यात्म योग-साधना का सर्वस्व मान लेना भूल है, क्योंकि इनकी अपेक्षा सात्त्विक मिताहारमात्र से भी दीर्घकाल तक रहने से वही फल सिद्ध हो जाता है, जो इन साधनों से होता है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत् कर्म न सम्मतम्॥

हठ० प्रदी० २,३६

षट्-कर्म के विना केवल प्राणायाम से ही सम्पूर्ण मल—स्थूलता, वात, कफ आदि—संपूर्णतया शुष्क हो जाते हैं। इसलिए याज्ञवल्क्य आदि कई आचार्यों को अन्य अर्थात् षट्-कर्म एतदर्थ अभिमत नहीं हैं।

परन्तु जहां इन का अति उपयोग, दुरुपयोग अथवा अनुचित महत्त्व भ्रान्तियुक्त होने से हानिप्रद है, वहां हठयौगिक आसन षट्-क्रियादि का नितान्त तिरस्कार भी युक्तियुक्त नहीं

है। इनका उचित उपयोग, किसी दक्ष की देख रेख में, इनके शारीरिक तथा मानसिक प्रभाव के कारण, लाभदायक ही है। हां! केवल इन क्रियाओं को योग समझ लेना भूल है। दोनों वर्गों के लिये मध्यमार्ग ग्रहण करके स्वयं उचित लाभ उठाना श्रेयस्कर है। तथा अनुचित धारणा, अनुष्ठान तथा वचनद्वारा दूसरों को पथ-भ्रष्ट करने के पाप का भागी नहीं बनना चाहिए।

१६. योग के भेद

पातञ्जलयोग, मन्त्रयोग, हठयोग, कुण्डलिनीयोग, लययोग, भक्तियोग आदि योग के अनेक भेद हैं। उन सब का विस्तार यहां अनावश्यक है, क्योंकि यह केवल योग विषय का ग्रन्थ नहीं है। यहां तो केवल ब्रह्मविद्या के प्रधान अंग के रूप से योग के उचित महत्त्व, उसके शुद्ध स्वरूप, अन्य अंगों के साथ उसका सम्बन्ध तथा योग के विघ्न-विषयक विवेचन ही अभिप्रेत हैं, जिससे साधक केवल योग के अवलम्बन से अथवा योग को नितान्त त्याग करके चिरकाल तक महान् प्रयत्न करने पर भी विफल-मनोरथ न हो जाए अथवा लक्ष्य की भली प्रकार पहिचान न होने से बीच में ही अपने आप को कृत-कृत्य मान कर प्रयत्न न त्याग दे।

इन सब योगों का अनुष्ठान केवल शास्त्र के सहारे, किसी निपुण, परहितपरायण, अनुभवी महात्मा के बिना नहीं हो सकता, नहीं तो अनेक प्रकार के विघ्न तथा भयानक रोग होने का दुर्निवार्य भय है। इस भूल से बहुत सचेत रहना तथा इस चेतावनी को सदा स्मरण रखना चाहिए। इस कारण से भी इनके विस्तार को अनुपयोगी समझ कर ऐसा नहीं किया गया। और इनके अनन्त विस्तार तथा अनुष्ठान का ब्रह्मविद्या में विशेष उपयोग भी नहीं है। यहां पर तो योग का उपयोग केवल चित्त के सूक्ष्म, दिव्य तथा समाहित करने में है, जिससे सूक्ष्मतम

ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति हो सके। योग के अनन्त अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले आकर्षक अतः बाधारूप अवान्तर फलों से कुछ प्रयोजन नहीं। इसलिए इस प्रकार के ग्रन्थ में इतने महान् विस्तार का कुछ उपयोग नहीं है।

१७. योग का एक सरल तथा उत्तम मार्ग

मार्ग के साधन का महत्त्व तथा जन-प्रमाद

केवल एक सरल, परन्तु सर्वोत्तम, परमोपयोगी, परम सामर्थ्यवान् अमोघ साधन का वर्णन कर देना, सच्ची सात्त्विक श्रद्धा से सम्पन्न साधक के लिए उपयोगी होगा। इस अति सरल उपाय की महिमा के आधार पर प्राणायाम आदि कष्ट-साध्य साधनों का निरादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सब साधन भी शास्त्रसम्मत हैं और इनकी महिमा तथा फलों का जो वर्णन शास्त्रों में मिलता है, वह सब सत्य और अनुभव से अनुमोदित है। पर, यह भी सत्य है कि ये सब रहस्यमयी विद्याएं सामान्य मानवीय बुद्धि का काम नहीं हैं। ये परम हितैषी भगवान् तथा महापुरुषों का मनुष्य जाति को दिव्य धाम की ओर ले जाने के लिए कृपाकटाक्ष का प्रसाद हैं। जिस प्रकार वेदादि शास्त्रों का महापुरुषों पर अवतरण हुआ है, उसी प्रकार प्राणायाम आदि के दिव्य ज्ञान का भी महापुरुषों पर भगवत्कृपा से अवतरण हुआ है। जो दिव्य पुरुष जन्म से ही इन दिव्य विभूतियों से सम्पन्न थे, उन्होंने मानवीय सामान्य बुद्धि के अगोचर इन मार्गों का मानव जाति के परम कल्याण के लिए उपदेश किया। परन्तु फिर भी यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि ये साधन हैं अति-कष्ट साध्य, और इनकी दीक्षा देने वाले निपुण गुरु का मिलना भी सुलभ नहीं है। यह कठिनाई ही इन मार्गों तथा विद्याओं के अधिक महत्त्व का कारण बन गयी है।

इन से भिन्न शास्त्र में एक सरल उपाय भी वर्णित है। शास्त्र इसकी दूसरे मार्गों की अपेक्षा भूरि-भूरि प्रशंसा भी करता है। परन्तु हम इस को साधारण समझ कर इसे उचित महत्त्व नहीं देते। जैसे कोई बालक समझे कि मीलों तक फैला हुआ महान् अंधकार एक दियासलाई या दीपक के जलाने रूपी साधारण क्रिया से कैसे दूर हो जायगा, इसके दूर करने के लिए तो महान् प्रयासयुक्त कोई बहुत बड़ा यंत्र चाहिए। इसी प्रकार की धारणा हम ने भी इस सामान्य सरल साधन के विषय में बना ली है। हम इसका उपयोग विधि के अनुसार श्रद्धा पूर्वक नहीं करते। हम सांसारिक मोहादि के वश हुए अध्यात्मलक्ष्य की ओर से आत्म-घातक प्रमाद करते हैं। यदि कुछ चेतावनी आती है तो महान् कष्टसाध्य साधनों की ओर आकृष्ट होते हैं। उन साधनों की उपयुक्त शिक्षा के अभाव से या तो उनका आचरण ही नहीं करते, केवल विचार मन में उठ-उठ कर वहीं लीन हो जाते हैं, अथवा स्वतन्त्ररूप से कुछ करते हैं, तो कई कष्टदायक विघ्नों के उपस्थित हो जाने पर विवश और हताश होकर हमें इस पथ को ही छोड़ देना पड़ता है, अथवा बहु आयास-साध्य होने के भय से हम इनमें प्रवृत्त ही नहीं होते। कोई विरला ही इन साधनों से सफलता प्राप्त कर पाता है। इतना होने पर भी प्राक्तन मलिन संस्कारों, नास्तिकता तथा अश्रद्धा के कारण हम इस सरल और सामान्य परन्तु सर्वोत्कृष्ट, परमोपयोगी और सर्व-विदित साधन की ओर ध्यान तक नहीं देते। इस साधन की शास्त्र में जो महिमा वर्णन की गयी है, वह भी उपर्युक्त अश्रद्धा आदि दोषों के कारण हमें कल्पना सी दीखती है। यह साधन ऐसा है कि इस का अनुष्ठान युवा, बाल, वृद्ध, पुरुष, स्त्री, अनपढ़, पण्डित, धनी, निर्धन, रोगी, बलवान् सभी समान रूप से कर सकते हैं। हमें इस सरल उपाय का केवल इसकी सरलता

के कारण या पाश्चात्य भौतिकशिक्षा के प्रभाव के कारण ध्यान तक नहीं आता। आप पूछेंगे कि इतनी लम्बी भूमिका तो हुई, परन्तु उस साधन का नाम-निर्देश आदि कुछ नहीं हुआ, वह भी तो होना चाहिए। परन्तु यह लम्बी भूमिका की अवतरणिका भी इसीलिए करनी पड़ी है कि आप झट कह देंगे कि यह तो पहले भी कई बार सुना है। इसमें नई बात ही क्या है ? परन्तु इसमें नई बात यही है कि आप इसके अमित प्रभाव को नहीं जानते। इसलिए इसमें श्रद्धा नहीं होती। यदि कभी पढ़ते तथा सुनते भी हैं, तो अनसुना सा कर देते हैं, और यही कहते हैं अजी! यह तो दिलबहलावे की बातें हैं, इससे क्या होता है ? अब तक इससे किसी का क्या हुआ है ? बहुतों ने किया किसी को फल तो होते देखा नहीं। अमुक अमुक वर्षों से इसको करते हैं, परन्तु जीवन में रत्तीभर उन्नति नहीं हुई। इसके माहात्म्य की बातें सब दिल्लगी की बातें हैं। इसीलिए हमें भी इसकी महिमा का विस्तार करना पड़ा है। क्योंकि जनसाधारण अश्रद्धा तथा प्रमाद के वश इस पारस मणि से उदासीन है। और अपने आध्यात्मिक दारिद्र्य का अमोघ उपाय सुलभ होने पर भी दिन-रात मोह-पाश में बंधा हुआ अपार चिन्ता में डूबा रहता है। वह उपाय है—भक्तियोग और उसका अत्यन्त सरल तथा अमोघ अंग ओंकार (अथवा अन्य किसी भगवन्नाम) का अवलम्बन।

१८. उपनिषदादि में 'ओम्' महिमा

'ओम्' की महिमा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर वर्णित है।

नचिकेता यम आचार्य से प्रश्न करते हैं—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ कठ २,१४

भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो धर्म तथा अधर्म से अतीत, कार्य तथा कारण जगत् से भी भिन्न, भूत, भविष्यत्, तथा वर्तमान तीनों कालों से अमर्यादित (कालातीत) तत्त्व को जो आप जानते हैं, वह मुझे बताएं।

यम आचार्य उत्तर देते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
२, १५

सम्पूर्ण वेद जिस परम पद का विस्तार से निरूपण करते हैं, सम्पूर्ण तपों का विधान जिस पद की सिद्धि के लिय किया जाता है, साधक जिसकी इच्छा से प्रेरित होकर ब्रह्मचर्य आदि कष्ट-साध्य व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, उस पद का संक्षिप्त रूप से मैं कथन करता हूं—वह अक्षर 'ओम्' ही है।

'ओम्' महिमा—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ २,१६

यह अविनाशी 'ओम्' ही ब्रह्म है। परमपद की प्राप्ति का साधन होने से यह 'ओम्' अक्षर ही मानों पर (ब्रह्म) है। नाम और नामी का यहां अभेद ही है। इस अक्षर 'ओम्' (की महिमा—प्रभाव) को जान कर अनन्य श्रद्धा के सहित इसका अनुष्ठान करने से मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ २,१७

यह अत्युत्तम आलम्बन (आश्रय—आधार) है, यह परम आधार है। इस आलम्बन (की महिमा) को जान कर इसके द्वारा ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।

एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्
विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ प्रश्नोपनिषद् ५,२

जब शिविपुत्र सत्यकाम ने पिप्पलाद महर्षि से मृत्यु के समय 'ओंकार' के ध्यानका फल पूछा, तो ऋषि ने उसे कहा—हे सत्यकाम ! निश्चय ही यह जो 'ओम्' है, यही पर तथा अपर ब्रह्म है। इस लिये विद्वान् (ओम् के महत्त्व को जानने वाला) इस ओङ्कार के आश्रय से ही पर तथा अपर ब्रह्म की (अपनी श्रद्धा के अनुसार) प्राप्ति कर लेता है।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥

कैवल्योपनिषद् १,११

अन्तःकरण को नीचे की अरणि (अग्नि मथने की समिधा) बनाकर 'ओंकार' को ऊपर की अरणि (अग्नि मथने की समिधा) बनाकर पण्डित ज्ञानरूपी मन्थन के अभ्यास से पाप तथा संसार-वासना को जला देता है।

ओमिति ब्रह्म। ओमिति इदं सर्वम्। ओमित्ये-
तदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति।
ओमिति सामानि गायन्ति । ओं शोमिति
शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं
प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमिति

अग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः
प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मैवोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति।

तैत्तिरीय १,८

यह 'ओम्' ब्रह्म (पर) है। यह 'ओम्' ही सर्व (दृश्यमान जगत्) है, अर्थात् शबल ब्रह्म है । 'ओम्' के उच्चारण द्वारा ही श्रेष्ठ जन किसी बात का अनुमोदन करते हैं। 'ओंकार' उच्चारण करके ही गुरु अथवा वक्ता उपदेश का आरम्भ करता है। साम के गान के आरम्भ में भी प्रथम 'ओंकार' का गान होता है। यज्ञ में शस्त्र-शंसन के कर्म करने वाला होता ऋत्विक् 'ओम्' के उच्चारण के अनन्तर ही शस्त्रमन्त्रों का उच्चारण करता है। अध्वर्यु ऋत्विक् भी 'ओम्' का उच्चारण कर प्रतिगर मंत्र का उच्चारण करता है। ब्रह्मा भी 'ओम्' उच्चारण से अनुमति देता है। ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) 'ओम्' उच्चारण द्वारा ही (अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व) प्रार्थना करता है कि मैं वेद के अध्ययन की सामर्थ्य प्राप्त करूं। इस विधि से वह सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी
विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया
एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवःस्वरिति ॥
तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रव-
त्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येव-
मोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदं
सर्वम् ओङ्कार एवेदं सर्वम् ॥ छान्दोग्य २, २३,२;३

प्रजापति ने लोकों के उद्देश्य से ध्यान रूप तप किया । इन अभितप्त लोकों से त्रयी विद्या की उत्पत्ति हुई। इस अभितप्त

त्रयी विद्या से भूः, भुवः, और स्वः ये महाव्याहृतियां उत्पन्न हुई। उन अभितप्त महाव्याहृतियों से 'ओंकार' उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार नसें सम्पूर्ण पत्ते में फैली हुई होती हैं, इसी प्रकार 'ओंकार' से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। 'ओंकार' ही यह सब कुछ है।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥

श्वे० १, १३

जैसे योनि—आश्रयभूत काष्ठ—में स्थित अग्नि का रूप दिखाई नहीं देता, परन्तु उसकी सत्ता का नाश भी नहीं होता क्योंकि वह उपयुक्त यत्न से ईंधनरूप योनि से प्राप्त किया जा सकता है, ठीक ऐसे ही वह दोनों जीव और ईश्वर शरीर में ओंकार के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥

श्वे० १,१४

अपनी देह को (नीचे की) अरणि बना कर और प्रणव को ऊपर की अरणि बना कर ध्याननिर्मथनरूपी अभ्यास कर अर्थात् शरीर को स्थिर करके प्रणव का एकाग्र मन से अर्थ-भावना सहित अनन्य श्रद्धा से निरन्तर दीर्घकाल तक जप करे, तो हृदय में छिपे परमात्मा के दर्शन कर लेता है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ मुण्डक २,२,६

जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं, ऐसे ही जिस हृदय में नाडियां स्थित हैं, जिस हृदय में अनेक प्रकार से उत्पन्न (व्यक्त) होने वाला वह आत्मा रहता है, इस आत्मा का ओम् नाम द्वारा ध्यान करो। अज्ञानमय अन्धकार से अतीत तथा भवसागर के अन्तिम तटरूप आत्मा की प्राप्ति के लिये यह कल्याणकारी हो।

पतञ्जलि ऋषि ने योगदर्शन के समाधिपाद में जहां अनेक विधियों तथा अभ्यासरूपी साधन के सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञातरूपी भेदों का सविस्तर वर्णन (१७-२०) सूत्रों में किया है, वहां इस (ओम्) ही के अभ्यास द्वारा शीघ्रतम प्राप्ति का उपाय भी (२१-२२) सूत्रों में वर्णन किया है। सूत्रकार का विशेष निर्दिष्ट मार्ग यही प्रतीत होता है, क्योंकि विभूतिपाद में भी इसी का अन्यत्र वर्णन है। परन्तु यहां प्रथम समाधिपाद में अभ्यास के अनन्तर शीघ्रतम समाधिलाभ के उपाय के रूप में—विकल्परूप में— सूत्र २३ में ईश्वरप्रणिधान का निरूपण है। भगवान् व्यास का भाष्य इस सूत्र पर बहुत महत्त्व का है तथा परम श्रद्धालुओं के बहुत काम की वस्तु है।

व्यासभाष्य में जहां इस समाधि के लाभ के लिए अभ्यास के अनेक भेद बताए हैं, जिन का समझना तथा अनुष्ठान करना सुगम नहीं है, वहां इस सुलभ उपाय का भी वर्णन किया है; जिससे बहुत अल्पकाल में समाधि का लाभ स्वतः ही हो जाता है। इस में जो हेतु दिया गया है वह मर्मभेदी, रहस्यपूर्ण, अध्यात्मविद्या का सार तथा आस्था की वृद्धि करने वाला है। अन्य उपायों में साधक अकेला अपनी ही अल्पशक्ति के सहारे पर इतने कठिन कार्य में उत्तीर्ण होना चाहता है। परन्तु इस ईश्वरप्रणिधान—ओंकार के जाप तथा अर्थ-भावना—से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसादमात्र

से साधक का चित्त निज धाम में स्थिर हो जाता है। यह थोड़े से विचार से भी स्पष्ट हो जाता है कि जब इतनी महती शक्ति का सहयोग हो, तो फिर लक्ष्य-सिद्धि में क्या विलम्ब है? तब सिद्धि तो निश्चित और हाथ में ही समझनी चाहिए। परन्तु यह है श्रद्धा का काम, जो श्रद्धा अनन्त जन्मों के पुण्यसञ्चय से प्राप्त होती है। जिनको अपनी बुद्धि तथा बल का मिथ्या अभिमान होता है उनके लिए इसे अपनाना कठिन है। गीता (७,१४) में भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को माया के विजय करने का सरल उपाय भक्ति को ही बताया है। गीता (६,४७) में भी सब योगों से भक्तियोग की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। योगसूत्र (१,३०-३१) में भी इस एक उपाय—प्रणव के जाप—से ही योग के नौ अन्तराय तथा विक्षेपों की निवृत्ति और स्वरूप-स्थिति के लाभ का वर्णन है। सूत्र (१,२९) में प्रणव-जाप का ऐसा महत्त्वपूर्ण फल बताया गया है*।

परन्तु मनुष्य इतने सुलभ और महान् सामर्थ्यवान् साधन को छोड़ कर अन्यत्र भटकना चाहता है। यह उसकी इच्छा है। उस पर इस कलियुग में कौन सा अंकुश है। ईश्वर के ओम् आदि नामों का अमित प्रभाव है। परन्तु इतने पर भी जन-साधारण और कई महात्मा भी कहते सुने जाते हैं कि नाम से क्या होता है? क्या भगवान् नाम तथा स्तुति का भूखा है? सब संसार भगवान् का नाम लेता है, परन्तु कुछ फल तो दिखाई देता नहीं। अपने जीवन को सुधारना चाहिए। पाप तथा मलिन भोग-वासना को धो डालना चाहिए। फिर ईश्वर तो स्वयं आपके पास आ जायगा। यदि इस प्रकार के वचन नाम लेने का ढोंग करने वाले बगुला भक्तों तथा ऐसे साधकों, जो नाम

* योग के इन सूत्रों का सविस्तर अर्थ 'ब्रह्मविद्या' नामक पुस्तक के समाधान प्रकरण (पृ० १३१-१३३) में किया गया है।

के साथ व्यवहार की पवित्रता के सहयोग से अनभिज्ञ हैं, की चेतावनी के लिए कहे गये हों, तो उपयुक्त ही हैं। क्योंकि 'ओम्' आदि भगवन्नामों का जाप भावना (श्रद्धा तथा शुद्ध व्यवहार) से ही फल दे सकता है। कौन ऐसा व्यक्ति है, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर में श्रद्धा रखे और फिर ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध अन्याय का आचरण भी करे। व्यवहार की शुद्धि को स्वतन्त्र पर्याप्त साधन मानना और ईश्वर के नाम, जप आदि को निरर्थक श्रम और तोते की रट कहना अध्यात्म लक्ष्य तथा साधन से अत्यन्त अनभिज्ञता के कारण होता है। जैसे अग्नि का स्वाभाविक कार्य तथा गुण जलाना है। इसी प्रकार ईश्वर के नाम का प्रभाव भी है। परन्तु अग्नि के जलाने में भी कई प्रतिबंधक होते हैं। इसी प्रकार श्रद्धा से शून्य जाप तथा ध्यान आदि का विशेष फल नहीं होता। अथवा जिस जिस भावना से कोई नाम-जप श्रद्धा सहित करता है, उसको वही फल प्राप्त होता है। जो लौकिक फलों की कामना से जाप करते हैं, उन्हें परमार्थ-सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? जो लोग बिना श्रद्धा के केवल दूसरों को ठगने के लिए दम्भ करते हैं, उनको किस फल की सिद्धि हो सकती है ? परन्तु इन लोगों के दम्भ के कुफल के कारण शुद्ध, सात्त्विक ईश्वर प्रणिधान, भक्ति, ध्यान, जप आदि को निष्फल समझना भूल है। हां, यह जाप विधि-सहित होना चाहिए। यदि कोई एकान्त में शुद्ध भावना से, सत्यादि का आचरण करते हुए सिद्धादि किसी एक आसन पर स्थिर होकर, ओंकार का प्राणसहित अजपा जाप ध्यान प्रतिदिन न्यून से न्यून तीन घण्टे करे तो कुछ काल में ही उसे इसका प्रभाव विभिन्न रूप से अनुभव होने लगेगा। यह अनुभव की वस्तु है। शब्द इसका क्या निरूपण कर सकते हैं। अश्रद्धालुओं के लिए तो यह सब कल्पनामात्र ही है। अनुष्ठान ही सब सन्देहों को

भस्मसात् कर सकता है। शास्त्र तथा महात्मा तो इसका एक स्वर से अनुमोदन कर रहे हैं। लाभ उठाना या न उठाना मनुष्य के अपने भाग्य तथा पूर्वकृत पुण्य पर निर्भर है।

१९. योग में महान् विघ्नरूप सिद्धियां

किसी साधना के अनुष्ठान करने पर अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं, जिनमें से कुछ एक का उल्लेख चेतावनी के लिए पहले किया जा चुका है। उनसे भिन्न एक महान् अनर्थकारी विघ्न के विषय में उपयुक्त चेतावनी देकर विस्तार के भय से इस विषय को समाप्त किया जाता है।

योगदर्शन के विभूतिपाद में अनेक संयमों का वर्णन मिलता है, जिनके भिन्न-भिन्न विचित्र फल सिद्धि के रूप में कहे गये हैं। बहुत से लोग इन सिद्धियों को ही योग का परमसाध्य मानते हैं। और इस समय जब रेडियो आदि दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन के यन्त्रों का आविष्कार हो चुका है, तो वे लोग कहते हैं कि इस युग में योग की क्या आवश्यकता है? क्योंकि, उनकी दृष्टि में इन सिद्धियों को प्राप्त कर लेना ही योग का एकमात्र लक्ष्य है। कई सज्जन इन सिद्धियों से आकृष्ट हो कर ही योग में प्रवृत्त होते हैं परन्तु ये सिद्धियां योग का वास्तविक ध्येय नहीं है, प्रत्युत ये तो उसके परम लक्ष्य में बाधारूप हैं। शक्ति को योग का परम लक्ष्य समझना या शक्ति के बिना योग को निष्फल मानना अथवा शक्ति का किसी रूप से भी प्रलोभन साधक को सच्ची स्थिति से भ्रष्ट करने वाले होते हैं। प्रायः इस प्रकार की विपरीतभावना, शक्ति का मोह तथा अपने वृथा अभिमान के कारण साधक अपनी असत्य मनोभावनाओं को ही सिद्धि—शक्ति—की कल्पना करने लग जाता है। इस प्रकार वह सिद्धि की भी असल और नकल में पहिचान नहीं कर पाता। और काल्पनिक मनः-

स्थिति को ही भोले मनुष्यों में अपनी महिमा और प्रतिष्ठा के लिए सिद्धि कह कर प्रकट करता है। जैसे पहले भी कहा गया है कि यदि कभी किसी साधक को कुछ काल साधन करने के पश्चात् इस प्रकार के कुछ विलक्षण या दिव्य अनुभव होने भी लगें, जिनको सिद्धियां कहा जाता है, तो उसे धैर्य से काम लेना चाहिए, और अनेक वार परीक्षा करने के पश्चात् निष्पक्षभाव से किसी निर्णीत परिणाम पर पहुंचना चाहिए तथा इसको गुप्त रखना चाहिए। क्योंकि, मिथ्या अभिमान ही मिथ्या धारणा का कारण बन जाता है। परन्तु विना प्रकट किये इस मिथ्याभिमान की पूर्ति नहीं होती। अतः इस विषय में मौन धारण कर लेने से अधीरता तथा निर्णय करने में भ्रान्ति का मुख्यकारण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार योग-मार्ग में अपनी उन्नति तथा किसी साधन के वास्तविक प्रभाव के जानने में गलती नहीं होती। इसके अतिरिक्त प्रकट कर देने से उन्नति में बाधा पड़ती है। 'गुप्ता सो सिद्धा' वाली उक्ति सच्ची है, इसीका अनुसरण करना चाहिए।

सिद्धियों का प्रलोभन केवल साधक की अपनी वास्तविक स्थिति के निर्णय करने में भ्रान्ति तथा सामान्य उन्नति में बाधा ही उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत परमलक्ष्य की प्राप्ति में अति भय-प्रद प्रतिबन्ध है, क्योंकि शक्ति का प्रलोभन अज्ञानमूलक तथा अयुक्त है और हृदयग्रन्थि को दृढ करता है। योगसिद्धियां तथा शक्तियां भी माया का अति सूक्ष्म दृढ पाश हैं, जिससे कोई विरला, भाग्यवान्, परम सात्त्विक, श्रद्धा वाला, अतिसूक्ष्म तथा शुद्ध बुद्धि वाला, नीर-क्षीर-विवेकी हंस के समान नित्य तथा अनित्य के दृढ विवेक वाला ही बच सकता है। इस विषय में स्वयं भगवान् पतञ्जलि सिद्धियों तथा विभूतियों के वर्णन करने के पश्चात् साधकों की चेतावनी के लिए लिखते हैं:--

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ योग ३,३७

जो साधक आत्म-संयम के अभ्यास में प्रवृत्त होता है, कभी कभी उसे आत्मदर्शन से भिन्न अन्य सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। उनकी प्राप्ति पर वह अपने आपको कृत-कृत्य मानने लग जाता है, और आत्म-संयम से उपरत हो जाता है। ऐसे अवसर पर ही इस सूत्र का उपयोग है।

व्यास भाष्य का अर्थः—व्युत्थितचित्त ही प्रातिभ आदि (पूर्वसूत्र में वर्णित सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (दूर) अतीत तथा अनागत पदार्थों का ज्ञान) सामर्थ्य को ऐसे ही सिद्धि मानता है, जैसे कि जन्म से दरिद्र रत्तीभर स्वर्ण को स्वर्ण का भार (मनों) समझने लगता है और अपने आपको कृत-कृत्य मान कर व्यवसाय आदि से प्रमाद कर लेता है। परन्तु समाहितचित्त वाले को इन सिद्धियों से उपरत होना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका लक्ष्य त्रिविध तापों की शान्तिरूप परम पुरुषार्थ है। अतः परमलक्ष्य की विरोधी सिद्धियों में वह कैसे रम सकता है।

उपर्युक्त प्रातिभ आदि सिद्धियां समाधि की वृद्धि में विघ्न हैं, क्योंकि हर्ष, विस्मय, प्रमाद आदि के कारण समाधि शिथिल हो जाती है। व्यवहाररूप व्युत्थान दशा में विशेष फल प्राप्ति का हेतु होने से सिद्धियां कहलाती हैं। भोजवृत्ति ३, ३७

कैवल्य साधन (आत्म-संयम) में प्रवृत्त होने पर, योगी को सिद्धिरूपी विघ्न उपस्थित होने पर, उस विघ्न-निवृत्ति का उपाय सूत्रकार इस (३,५१) सूत्र द्वारा बताते हैं:—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्

योग ३,५१

दिव्य लोकों के अधिपतियों के आदर सत्कार पूर्वक निमन्त्रण करने पर तथा अपने अपने लोकों के दिव्य रमणीक भोग समर्पण करने पर, उन भोगादियों में आसक्तिवश, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। और दोष-दृष्टि से उन भोगों का त्याग करके भी, इस त्याग के अपने महत्त्व को देख कर विस्मित नहीं होना चाहिए। अर्थात् त्याग मात्र का भी इस प्रकार का अभिमान भी नहीं करना चाहिए कि इतने महान् ऐश्वर्य को, जो मुझे अनायास ही प्राप्त होता था, मैंने इसे त्याग दिया है। मैं इन में आसक्त नहीं हुआ हूं। क्योंकि इस अभिमानयुक्त त्याग से अनिष्ट (जन्म-मरणरूपी संसार-चक्र) का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। त्याग में महत्त्व समझना भी आसक्ति का ही गुप्त रूप है।

व्यास भाष्य का अर्थः—योगियों के चार भेद हैं:—(१) प्रथमकल्पिक—प्रवृत्तमात्र-ज्योति—जिसने पर-चित्तादि-विषयक ज्योति—ज्ञान—प्राप्त नहीं किया, अभी केवल तत्साधन में प्रवृत्त हुआ है (२) मधुभूमिक—ऋतंभराप्रज्ञ—जिसने संयम के विषय का ज्ञान—ज्योति—समाधिप्रज्ञा को प्राप्त कर लिया है, परन्तु अभी इनसे उपरत नहीं हुआ, भूतेन्द्रियों को विजय नहीं किया, यद्यपि इनको विजय करना चाहता है। समाधि की यह आरंभिक दशा है। (३) प्रज्ञाज्योति—भूतेन्द्रियजयी–जिसने समाधि-प्रज्ञा दृढ होने से भूतेन्द्रियों को विजय कर लिया है। जिसने संयम द्वारा जाने हुए तथा जानने योग्य पदार्थों के ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। यौगिक सम्पत्ति की रक्षा करने में जो समर्थ है। जो उपयुक्त साधन से सम्पन्न है। (४) अतिक्रान्तभावनीय—जिसने योग का चरमफल सप्तविध प्रान्त-भूमिप्रज्ञा (विवेक ख्याति की पराकाष्ठा द्वारा) प्राप्त कर लिया है। जो गुणमात्र के बन्धन से मुक्त हो चुका है। जिसका एकमात्र लक्ष्य उपयुक्त, दृढ, आत्म-

ज्ञान द्वारा असम्प्रज्ञात—निरोधाभ्यास—से चित्त का मूल कारण में लीन करना ही शेष है।

(१) प्रथम कक्षा में तो योग-साधना का आरंभमात्र हुआ है, अभी संयम सिद्ध ही नहीं हुआ। (२) दूसरी में संयम सिद्ध है, परन्तु अभी संयम-फल से उपरति नहीं। (३) तीसरी में अनात्म-संयमफल से उपराम भूतेन्द्रियों को वितर्कसिद्धि द्वारा जीत लिया है, परन्तु अभी गुणमात्र के व्यवहार को नहीं जीता। (४) चतुर्थ में योग की पराकाष्ठा है, जहां योगी ने योग के परम फल को प्राप्त कर लिया है। कक्षा ३ तथा ४ में इन्द्रिय-विजय आदि के द्वारा देवताओं के प्रलोभन दिव्य-भोगों से ऊपर उठ चुके हैं। इसलिए देवता अपने आप को उनसे अत्यन्त निकृष्ट समझते हुए, उनको प्रलोभन नहीं देते (या नहीं दे सकते)। सामर्थ्य तथा प्रभाव के कारण वे प्रथम कक्षा को अत्यन्त उपेक्षणीय समझते हैं। शेष द्वितीय कक्षा मधुमती भूमि के साधक की सत्त्व (चित्त) शुद्धि को देखते हुए दिव्य लोकाधिपति देवता उनको निमन्त्रित करते हैं:—"आओ यहां निवास करो ये भोग वाञ्छनीय हैं, यह कन्या अति सुन्दर है, यह रसायन जरा-मृत्यु का निवारण करती है, यह आकाशचारी यान है, यह कल्प (मनोकामना पूर्ण करने वाला) वृक्ष है, यह पवित्र मन्दाकिनी नदी है, ये सिद्ध और महर्षि हैं, ये सुन्दर आज्ञाकारिणी अप्सराएं हैं, ये दिव्य श्रोत्र तथा चक्षु हैं, यह वज्र के समान काया है, ये सब दिव्य पदार्थ अपने उत्तम गुणों द्वारा आप ने प्राप्त किये हैं। कृपया इन्हें ग्रहण करें, यह देवताओं का अक्षय, अजर, अमर तथा प्रिय स्थान है"।

इस प्रकार निमन्त्रित होने पर साधक इन प्रलोभनों से बचने के लिए आसक्ति के दोषों की इस प्रकार भावना करे:— "मैं संसार के अंगारों (अग्नि) में चिरकाल से पक रहा हूं

और जन्म-मरणरूपी अंधकार तथा दुःखमय संसार में भटक रहा हूं। इन महान् दुःखों से त्रस्त हो कर किसी पुण्य-प्रताप से अथवा भगवत्कृपा से अविद्या आदि क्लेशरूप अंधकार नाश करने वाला योगप्रदीप मैंने प्राप्त किया है। ये दिव्यभोग, तृष्णा के कारण, विषय रूपी आंधी हैं, मैं इस प्रकार के यौगिक प्रकाश को प्राप्त हूं, अतः यह विषयरूपी मृगतृष्णा अब मेरी वञ्चना कैसे कर सकती है कि मैं पुनः अपने आप को संसार-अग्नि का ईंधन बना दूं। भगवान् हमारी इन स्वप्न के समान विषयों से, जिनकी याचना करने वाले दया के पात्र हैं, रक्षा करें"। ऐसी दृढ बुद्धि से पुनः आत्म-समाधि-अभ्यास में तीव्रता से प्रवृत्त हो जाये।

इन दिव्य प्रलोभनों में संग (आसक्ति) के वशीभूत न होने के पश्चात् निज महत्त्व पर ऐसा विस्मय (अभिमान आदि) भी न करे कि देवतागण भी मुझ से प्रार्थना करते हैं। क्योंकि इस अभिमान से अपनी स्थिति को स्थिर, सम्यक् निश्चिन्त समझने के कारण यह भावना उसकी दब जायगी कि मृत्यु ने मुझे केशों से पकड़ा हुआ है। ऐसी दशा में वह प्रमाद, जो साधक के दोषरूपी छिद्र की ताक में नित्य प्रयत्नशील रहता है, इस अभिमान आदि विवर (छिद्र) को पाकर अविद्या आदि क्लेशों को पुनः उभार देता है, जिस से पुनः महान् अनिष्ट—हानि—का अवसर उपस्थित हो जाता है।

उपर्युक्त विधि से आसक्ति तथा विस्मय, अभिमान आदि के न करने से संयम का अभ्यास दृढ होता है और जिस पदार्थ की योगी भावना करता है, वह प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) होता है। (योगदर्शन व्यासभाष्य: ३, ५१)

इस प्रकार सूत्रकार इन सिद्धियों में आकृष्ट न होने के लिए कितनी मर्मभेदी चेतावनी दिलाते हैं, कि इनका ग्रहण तो दूर

रहा, इनको त्याग कर भी यदि अपनी महिमा का मिथ्या, अज्ञानकृत अभिमान तथा विस्मय हो जाए तो इतना अभिमान मात्र ही योगी के महान् प्रयत्न को निष्फल कर देता है। क्योंकि यह मिथ्या अनात्माभिमान ही संसार-बंधन का मूल है। यदि यह शेष रह गया, तो मानना चाहिए कि संसार-पाश अभी दृढ ही है। इन सिद्धियों को जो ग्रहण करता है, उस में अनात्माभिमान तो स्पष्ट ही है, परन्तु त्याग भी तभी सफल होता है, जब त्याग का अभिमान उत्पन्न न हो। जो व्यक्ति इन सिद्धियों को त्याग कर अभिमान करता है, वह अपने इस आचरण से सिद्ध करता है कि उसके मन में इन सिद्धियों के प्रति महत्त्व है, क्योंकि अभिमान किसी महिमा का ही होता है। अपवित्रता, मलिनता तथा संसार-बंधन के त्याग का क्या अभिमान हो सकता है ? इसलिए इन सिद्धियों के महत्त्व के विषय में यह अभिमान भी भ्रान्ति का सूचक है। इस अनात्म-मोह तथा संसार के मूल कारण अज्ञान में क्या भेद है ? इसीलिए कहा है:—

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज ॥

महाभारत

धर्म अधर्म तथा सत्यानृत दोनों को छोड़ दो, इन द्वन्द्वों से भी पार हो जाओ, फिर जिस से यह छोड़ा है, उस त्यागाभिमान को भी छोड़ दो।

पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि का परम उपाय विवेक-ख्याति—प्रज्ञा—है। इसके विना जो असम्प्रज्ञात समाधि लाभ होती है, उसे हेय कहा गया ह। क्योंकि मनुष्य का जब उस से उत्थान होता है, तो वह पुनः दुःख-मय संसार-प्रवाह में पतित हो जाता है। साधक अवस्था में यह

सम्प्रज्ञात द्वारा विवेक-ख्याति रूपी सिद्धि ही उपादेय कही गयी है। परन्तु इस बोध-स्वरूपवृत्ति में भी यदि साधक को राग हो जाए, तो भी वह स्वरूप-स्थिति को लाभ नहीं कर सकता। इसी लिए योगदर्शन सूत्र (३,५०) "तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्"—में उस विवेक-ख्याति में दोष के निरीक्षण करने से चित्त की उपरामता सम्पादन का आदेश किया गया है। यदि परमस्वरूप की तुलना में यह बोधस्वरूप सिद्धि भी दोष से पूर्ण है, तो संयम द्वारा या अन्य किसी साधन द्वारा प्राप्त होने वाली अणिमादि कल्पनामय मिथ्यासिद्धियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? वेदान्त के ग्रन्थों में भी इसी प्रकार सविकल्प (सम्प्रज्ञात) समाधि के रसास्वादन को विघ्नरूप से वर्णन किया गया है। अर्थात् इस को भी लय, विक्षेप, कषाय दोषों के समान ही वर्जनीय ठहराया गया है। इन के छोड़े विना निर्विकल्प अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती।

२०. उपर्युक्त विचार का निष्कर्ष—

उपर्युक्त विचार का सार यह है कि योग तथा शास्त्र-ज्ञान दोनों ही ब्रह्मविद्या के परमोपयोगी साधन हैं। शास्त्र में भिन्न भिन्न प्रकरणों में जो इनकी प्रशंसा की गयी है, वह उचित ही है। इस से या अन्य किसी कारण से भ्रान्ति में पड़ कर किसी एक साधन का त्याग अथवा केवल दूसरे का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। ये दोनों परस्पर सहकारी हैं। दोनों प्रशंसनीय तथा उपादेय हैं। योगद्वारा सूक्ष्मबुद्धि हुए विना शास्त्र-रहस्य का असंदिग्ध तथा याथातथ्य बोध सामान्यतया असम्भव होता है। कोरे वाचक ज्ञान से परम रस की अनुभूति, परमतृप्ति तथा अलम्प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए ऐसी स्थिति के विषय में वास्तविक ज्ञान ही असम्भव है। अत एव अनेक मिथ्या

कल्पनाओं के पंक में निमज्जन होने के अतिरिक्त इस अनधिकार चेष्टा, दुराग्रह तथा शास्त्र-पाण्डित्य के मिथ्या अभिमान से कुछ उत्तम फल की सिद्धि नहीं होती। यद्यपि योग—निदिध्यासन—के उपयुक्त अनुष्ठान द्वारा परम हित-साधन करना ही श्रेष्ठ है, तथापि योग भी विना शास्त्ररूपी परमार्थ चक्षु के, अंधे के समान भरसक प्रयत्न करने पर भी, सफलमनोरथ नहीं हो सकता। इसलिए योगाभ्यासियों को भी श्रुति-श्रद्धा से हीन योगमात्र का आश्रय न लेकर श्रुति-प्रतिपादित लक्ष्य की सिद्धि के लिए श्रुति-विहित योग का ही अनुसरण करना चाहिए। इसके लिए वेद उपनिषद् आदि शास्त्रों का ज्ञान अनिवार्य है। पुरुषों की परिमित बुद्धियों से निकली हुई संकुचित योगप्रणालियों का अनुसरण नहीं करना चाहिए, और न ही ऐसी प्रणालियों तथा सम्प्रदायों का प्रचार ही करना चाहिए। क्योंकि इस से अपना तथा दूसरों का महान् अनर्थ होता है। हठयोग आदि योगों का अनुष्ठान, विना किसी निपुण आचार्य की सहायता के शरीर तथा मन के अनेक दुर्निवार्य क्लेशों का कारण है, जिससे आध्यात्मिक लाभ के स्थान पर प्राणों का भी भय है। अतः इस से बचना चाहिए। परन्तु ये सब भिन्न भिन्न मार्ग ईश्वर के निर्दोष ज्ञान का साक्षात् प्रसाद हैं, अथवा महान् पुरुषों को भगवत्कृपा से इन का निर्देश—आविष्कार—हुआ है। ये किसी मानवीय बुद्धि की जोड़ तोड़ का परिणाम नहीं हैं। इनका अनुष्ठान शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि में दिव्य परिवर्तन कर देता है। अतः इन में से किसी का भी निरादर नहीं करना चाहिए, हां! षट्क्रिया आदि किन्हीं सामान्य अंगों को ही योग का सर्वस्व समझना अथवा देश और काल की मर्यादा से रहित इनका उपयोग करना अयुक्त है। शास्त्र-विरुद्ध किसी मार्ग का अनुष्ठान सिद्धि का कारण नहीं, अपि तु

अश्रद्धा का ही कारण होता है। इसलिए अति का सर्वत्र त्याग करना चाहिए।

सर्वोत्तम, सरल, परम समर्थवान् साधन 'ओम्' आदि नाम का अर्थ-भावना-सहित जाप है। जो कि श्रद्धा तथा अन्य सत्य आदि नियमों के पालनसहित निरन्तर अनुष्ठान किया हुआ अवश्य अपने दिव्य प्रभाव को प्रकट करता है। इस अजपा जाप का सब युवा, वृद्ध, नर-नारी अनुष्ठान कर सकते हैं। इसमें विशेष भय नहीं। अनन्य श्रद्धा द्वारा ईश्वर-प्रसाद से सब विघ्न दूर हो कर इस साधन से अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही परम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। यह संसार-विशूचिका का महान् औषध है। हां! सत्यादि व्यवहार का अनुपान लाभकारी है। परन्तु सामान्य व्यवहार को ही परमार्थ-सिद्धि के लिए पर्याप्त समझना भूल है। श्रद्धा तथा शुद्धभावना से किया गया यह जाप सम्पूर्ण पाप तथा भोग-वासना को दग्ध कर सकता है। हां! मनुष्य का उद्देश्य सत्य होना चाहिए। यदि केवल दम्भ के लिए ही इसकी साधना की जाए तो साधन का क्या दोष?

सिद्धियों का परमलक्ष्य के साथ कुछ सम्बंध नहीं। अनात्म-मोह तथा शक्ति-लालसा के रूपवाली ये सिद्धियां योग-मार्ग में महान् प्रतिबन्धक हैं। अतः इनसे सावधान रहना चाहिए। इनके त्याग का भी अभिमान नहीं करना चाहिए। यह अभिमान भी किये कराये को मिट्टी में मिला देता है। यदि विवेक-ख्याति तथा सविकल्प समाधि का रस भी लय आदि प्रतिबन्धकों के समान विक्षेप और त्याज्य है, तो उपर्युक्त सिद्धियों की क्या गणना है? इनकी विचित्रता के मोह से बचना चाहिए। इस प्रकार के परवैराग्य द्वारा ही स्वरूपस्थिति का लाभ हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं।



सामान्यपदार्थ-सूची *

* निर्दिष्ट संख्या पृष्ठ की द्योतक है।

